श्री व्याख्यान सार संग्रह पुस्तक माला का १३वां पुष्प।

पुष्प तेरहवां

परिग्रह-परिमाण व्रत

सम्पादक और प्रकाशक

श्री जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम

द्वितीय वार १०००	मूल्य आठ आना अर्द्ध मूल्य चार आना	वि सं २००६ वीर सं २४७६

मुद्रक—श्री शारदा प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम.

प्रकाशक-

श्री साधुमार्गी जैन पूज्य श्री हुक्मीचंदजी महाराज
की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक मण्डल
रतलाम (मध्य भारत)

मनुष्य जन्म बहुत कठिनाई से प्राप्त हुआ है। यह मनुष्य शरीर समस्त कार्य सिद्धि का मुख्य साधन है। ऐसा कोई कार्य नहीं जो इस शरीर के उपलब्ध होने पर न किया जा सके। इस लिए मनुष्य-भव पारकर आत्मा का ध्येय साधे। संसार के जन्म मरण से छूटे। केवल मनुष्य शरीर ही इस ध्येय पर पहुंचाने मे समर्थ है इसलिये प्रत्येक आत्मा का कर्तव्य है कि वह मनुष्य शरीर को व्यर्थ न जाने दे किन्तु उसे पाकर जीवन मुक्त होने का प्रयत्न करे।

प्रथम संस्करण १०००
द्वितीय संस्करण १०००

भूमिका

जैन धर्म विश्व धर्म है। इसके प्रत्येक सिद्धान्त आत्मा को शान्ति ही नहीं परन्तु परमशान्ति प्राप्त कराने वाले हैं। इस परम पवित्र धर्म के प्रत्येक नियम प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार पालन कर सकता है। नियमोपनियम को सच्चे हृदय से पालन करने पर आत्मा का उत्थान ही नहीं किन्तु परमशान्ति की प्राप्ति भी हो सकती है।

शास्त्रकारों ने समस्त पापों का कारण परिग्रह को ही बताया है। ससार में जितने भी पाप हैं, वे सब परिग्रह के ही कारण है और परिग्रह के लिये ही किये जाते हैं। ऐसा कोई भी पाप कार्य नहीं है, जो परिग्रह के कारण न किया जाता हो। इच्छा और मूर्च्छा के वश हो कर ही प्रत्येक पाप किया जाता है। जहा इच्छा मूर्च्छा नहीं है, वहां किसी भी प्रकार का पाप नहीं ठहरता है।

संसार में जितनी भी हिंसा होती है, वह परिग्रह के लिए ही। परिग्रह के कारण ही लोग हिंसा करते हैं। राम और रावण का युद्ध महाभारत तथा गत जर्मन जापान आदि का युद्ध भी परिग्रह के लिए ही हुआ था। यह परिग्रह की लालसा ही महा दुःख का कारण है।

भगवान ने शास्त्रों में दु.ख से पार होने व परमशान्ति प्राप्त करने के लिए ही परिग्रह परिमाण व्रत बतलाया है। प्रत्येक गृहस्थाश्रम वासी को चाहिये कि वह परिग्रह की मर्यादा करके शान्ति से जीवनयापन करे जिससे व्यर्थ की चिन्ता स्वय विलीन हो जाती है।

परिग्रह की मर्यादा के अभाव में संग्रह बुद्धि बढ़ती जाती है। एक तरफ तो अनावश्यक परिग्रह को संग्रह हो जाता है और दूसरी तरफ जनता भूखी प्यासी और नगी घूमा करती है। इस तरह मर्यादा के अभाव में वैषम्यता पैदा हो जाती है। रूस की वैषम्यता ने ही साम्यवाद या बोलशेविज्म को जन्म दिया है।

आज भारतवर्ष में भी पूंजीवाद से त्रसित होकर जनता साम्यवाद एव समाजवाद की तरफ तेजी से बढ़ती जा रही है। नित्य प्रति नई २ घटनाए पूंजीवाद के खिलाफ पढ़ने को पत्रों में मिल रही हैं। यह साम्यवाद भी जनता को सुखी नहीं बना सकता है। हमारे देशके लिए हमारे पूर्वजों द्वारा दर्शित कर्तव्य पालन ही उपयोगी हो सकता है।

स्वर्गीय श्री पूज्य जवाहिराचार्य एक विशिष्ट एव युगप्रवर्तक महापुरुष हो गये हैं। उन्होंने शास्त्रीय गहन विषयों को सरल एव तरल करके जनता को पिलाया है। पूज्य श्री ने परिग्रह परिमाण व्रत की व्याख्या भी अभिरोचक एव सरल ढग से की है। यह पुस्तक भी आचार्य श्री के व्याख्यानों में से ही तैयार की गई है, जो आबाल वृद्ध सभी के लिए उपयोगी एव लाभप्रद है।

प्रत्येक सद्गृहस्थ को चाहिए कि वह इसको आद्योपान्त पढ़ कर तदनुसार अपना विचार एवं आचरण करें। परिग्रह की मर्यादा होने से ही गृहस्थ जीवन सुखी एव देश में फैली हुई वैषम्यता दूर हो सकती है।

सम्पादक

दो

'व्याख्यान सार सग्रह पुस्तक माला' का यह १३वां पुष्प है। इस की प्रथमावृति विक्रम संवत् १९९४ आषाढी पुर्णीमा को छपी थी। इसकी प्रतिया समाप्त हो जाने से बहुत समय से मांग चली आ रही है। कागज और प्रेस की असुविधा के कारण द्वितीयावृति तैयार नहीं करा सके। अब सुविधा हो जाने से यह द्वितीयावृत्ति आपके कर कमलों में पहुंचाई जा रही है।

परिग्रह परिमाण व्रत की प्रथमावृत्ति में श्रीमान सेठ ताराचन्दजी साहिब गेलड़ा की सौभाग्यवती धर्म पत्नी श्रीमती रामसुखी बाई ने सहायता प्रदान करके जनहितार्थ अर्द्धमूल्य में वितरण कराई थी।

इस समय छपाई एवं कागज की दर बहुत ज्यादह है। मण्डल का उद्देश्य साहित्य के द्वारा धनोपार्जन करने का नहीं है किन्तु जनता की सच्ची सेवा बजाना है। इसी उद्देश्य से प्रकाशित साहित्य अर्द्ध पौन एव लागत मूल्य मात्र में प्रकाशित किया जा रहा था किन्तु मण्डल के आद्यसेवक ने अपनी थैली भेंट की अर्पण की हुई रकम में से मदद देकर यह पुस्तक अर्द्धमूल्य में वितरण कराई है।

प्रथमावृत्ति से इसमें साधारण संशोधन एवं परिवर्तन किया गया है फिर भी दृष्टि दोष से कोई भूल रही हो तो वाचक सुधार

लेवें। यह भी बात स्मरण में रखी जाय कि पूज्य श्री के प्रवचन साधु भाषा में ही होते थे संग्राहक सम्पादक या संशोधक से कोई भाव उलट गये हों तो यह दोष उनका मानकर कृपया प्रेम से सूचित करें सो आगामी संस्करण में उचित संशोधन किया जा सके। इत्यलम्

श्री जैन हि. भा.
मण्डल आफिस
रतलाम मध्य-भारत

सेक्रेटरी सुजानमल तलेरा
प्रेसीडेन्ट हीरालाल नांदेचा

श्री जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम

पदाधिकारी

प्रेसीडेन्ट-श्रीमान् सेठ हीरालालजी नांदेचा

वाइस प्रेसीडेन्ट-श्रीमान् बालचन्दजी श्री श्रीमाल

खजांची-श्रीमान् सेठ वर्द्धीचन्दजी वर्द्धभाणजी पितलिया

सेक्रेटरी-सुजानमल तक्षेरा न्यायतीर्थ

चालू प्रवृत्तियां

(१) श्री धार्मिक परीक्षा बोर्ड का संचालन

(२) शिक्षण संस्थाओं का संचालन

(३) निवेदन पत्र का सम्पादन एवं प्रकाशन

(४) साहित्य का सम्पादन एवं प्रकाशन

(५) न्याय पूर्ण सरल सत्य सिद्धान्तों का प्रचार

सदस्य

५०१) एक मुश्त देने वाले वंश परम्परा के सदस्य

१०१) ,, ,, ,, आजीवन सदस्य

२) वार्षिक शुल्क देने वाले वार्षिक सदस्य माने जाते हैं।

विषय सूचि

[एक]

श्रावक का

परिग्रह-परिमाण व्रत

[विषय-प्रवेश]

परिग्रह की व्युत्पत्ति करते हुए, शास्त्रकारों ने कहा है कि—'परिग्रहण परिग्रहः'। अर्थात्, जिसे ग्रहण किया जावे, वह 'परिग्रह' है। ग्रहण उसे ही किया जाता है, जिससे ममत्व है। जिससे किसी प्रकार का ममत्व नहीं है, उस वस्तु को ग्रहण नहीं किया जाता, न निश्चयपूर्वक पास ही रखा जाता है। इस प्रकार जिसको ममत्व भाव से ग्रहण किया जाता है, वही 'परिग्रह' है।

परिग्रह का अर्थ ममत्व भाव है, इसलिए जिनसे ममत्व-भाव है, वे समस्त वस्तुएँ परिग्रह में हैं। जिसके प्रति ममत्व-भाव होने से जन्म-मरण की वृद्धि होती है, जो आत्मा को उन्नत होने से रोकता है, और जो मोक्ष में बाधक है, वही पदार्थ परिग्रह है। फिर चाहे वह पदार्थ जड़ हो, चैतन्य हो, रूपी हो, अरूपी हो, और समस्त लोक ऐसा बड़ा हो, अथवा परमाणु ऐसा छोटा हो। जो क्रोध मान माया लोभ का उत्पादक है, वही परिग्रह है। शास्त्रकारों का कथन है कि ज्ञान, संसारबन्धन से मुक्त करने वाला है, लेकिन यदि उसके कारण किंचित् भी अभिमान उत्पन्न हुआ है, तो वह ज्ञान भी परिग्रह है। धर्मपालन के लिए शरीर का होना आवश्यक है, परन्तु यदि शरीर से थोड़ा भी ममत्व है, तो शरीर परिग्रह है। इस प्रकार जिसके प्रति ममत्व-भाव है, जिससे काम क्रोध लोभ या मोह का जन्म हुआ है, वह परिग्रह है। परिग्रह आत्मा के लिए वह बन्धन है, जिससे आत्मा पुनः पुनः जन्म-मरण करता है। परिग्रह, आत्मा के लिए वह बोझ है, जो आत्मा को उन्नत नहीं होने देता और मोक्ष की ओर नहीं जाने देता।

शास्त्रकारों ने, परिग्रह के 'बाह्य' और 'अभ्यन्तर' ऐसे दो भेद किये हैं। उन्होंने, अभ्यन्तर परिग्रह में मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय आदि को माना है। जिनकी उत्पत्ति मुख्यतः मन से है, और जिनका निवासस्थान भी मन ही है, अर्थात् जो मन अथवा हृदय में ही [illegible]

सब की गणना अभ्यन्तर परिग्रह में है। बाह्य परिग्रह के, शास्त्र-कारों ने दो भेद किये हैं, 'जड़' और 'चैतन्य'। जड़ भेद में वे समस्त पदार्थ आ जाते हैं, जिनमें ज्ञान नहीं है किन्तु जो निर्जीव हैं। जैसे—वस्त्र, पात्र, चाँदी, सोना, सिक्का, मकान आदि। चैतन्य भेद में, मनुष्य, पशु पक्षी, पृथ्वी, वृक्ष आदि समस्त सजीव पदार्थों का ग्रहण हो जाता है। यह ससार, जड़ और चैतन्य के संयोग से ही है। संसार में जो कुछ भी दिखाई देता है, वह या तो जड़ है, या चैतन्य है। इसलिए जड़ और चैतन्य भेद में संसार के समस्त पदार्थ आ जाते हैं।

भगवती सूत्र में गौतम स्वामी के प्रश्न पर भगवान ने, कर्म शरीर और भण्डोपकरण ये तीन परिग्रह बताये हैं। ये तीनों परिग्रह भी, बाह्य और अभ्यन्तर इन भेदों में आ जाते हैं, इस लिए इनके विषय में पृथक् कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रहती। भगवान ने ये तीन परिग्रह सम्भवतः साधु के लिए बताये हैं। अर्थात् इस दृष्टि से बताये हैं, कि साधु के साथ भी ये तीन परिग्रह लगे हुए हैं, और जब तक साधु इन तीनों से नहीं निवर्तता, तब तक उसे मोक्ष नहीं मिल सकता। जो भी हो, यहाँ तो परिग्रह के भेद बताना है।

इस भेद-वर्णन का यह अर्थ नहीं है, कि पदार्थ ही परिग्रह है। पदार्थ, परिग्रह नहीं है, किन्तु उसके प्रति जो ममत्व-भाव है,

वह ममत्व-भाव ही परिग्रह है और इस कारण जिस पदार्थ के प्रति ममत्व-भाव है, औपचारिक नय से वह पदार्थ भी परिग्रह माना जाता है। क्योंकि ममत्व-भाव पदार्थ पर ही होता है, इसलिए ममत्व-भाव होने पर ही पदार्थ 'परिग्रह' है, लेकिन उस समय तक कोई भी पदार्थ परिग्रह रूप नहीं हो, जब तक कि स्वय में उसके प्रति ममत्व-भाव नहीं है। पदार्थ के प्रति ममत्व-भाव होने पर ही, पदार्थ परिग्रह है।

संसार में अनेक प्राणी हैं। सब प्राणियों की रुचि एक समान नहीं है, किन्तु अलग अलग है। एक ही योनि के प्राणियों की रुचि में भी भिन्नता रहती है, तब अनेक योनि के प्राणियों की रुचि में भिन्नता होना स्वभाविक ही है। इस लिए समस्त प्राणियों को किसी एक ही पदार्थ से ममत्व नहीं, किन्तु किस प्राणी को किस पदार्थ से ममत्व होता है, और किसी को किसी पदार्थ से। यह बात दूसरी है, कि एक ही पदार्थ से अनेक प्राणी ममत्व करते हों, परन्तु सब प्राणियों का ममत्व किसी एक ही पदार्थ तक सीमित नहीं रहता, किन्तु अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न एक या अनेक पदार्थ से ममत्व होता है। जिस वस्तु से नरक के के जीव ममत्व करते हैं, स्वर्ग के जीव उससे भिन्न या विपरीत वस्तु से ममत्व करते हैं। यही बात अन्य योनि के जीवों के लिए भी है। मतलब यह कि योनिभेद और रुचि-भेद के कारण किसी प्राणी को किसी वस्तु विशेष से ममत्व होता है,

और किसी को किसी से। इसलिए किस योनि के जीवों को किन पदार्थों से ममत्व होता है, सब प्राणियों के विषय में यह बताना कठिन भी है और अनावश्यक भी है। यहाँ जो कुछ कहा जा रहा है, वह मनुष्यों के लिए ही है। अतः केवल मनुष्यों के विषय में इस बात का विचार किया जाता है कि मनुष्यों को किन-किन पदार्थों से ममत्व होता है।

मनुष्य, बाह्य परिग्रह-युक्त भी होता है, और अभ्यन्तर परिग्रह युक्त भी। अर्थात् उसको मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय आदि अभ्यन्तर विचार रूप पदार्थों से भी ममत्व होता है, और बाह्य दृश्यमान--जड़ तथा चैतन्य--पदार्थों से भी। अभ्यन्तर परिग्रह के अन्तर्गत कहे गये मिथ्यात्व अविरति कषाय आदि का रूप शास्त्रों में विस्तृत रीति से बताया गया है। यदि इनके रूप और भेदोपभेद का पूर्ण विवरण यहाँ किया जावे, तो विषय बहुत बढ़ जायेगा। इसलिए इस विषयक वर्णन संक्षेप में ही किया जाता है।

मिथ्यात्व--जिस मोहनीय कर्म के उदय होने से आत्मा, आत्मभाव को विस्मृत होकर परभाव यानी पौद्गलिक भाव में ही रमण करे, या प्रकट में तत्वों की यथार्थ व्याख्या करके भी हृदय में विपरित विचार रखे, वीतराग के वाक्यों को न्यूनाधिक रूप में श्रद्धे, और अनेकान्त स्याद्वाद सिद्धान्तों को एकान्तवाद का रूप दे, यह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व भी परिग्रह है।

तीन वेद—आत्मा अपने स्वरूप को भूल कर जिस विकृत अवस्था के प्रवाह में बहे और स्त्रीत्व पुरुषत्व या नपुंसकता को वेदे, उस अवस्था का नाम वेद है। यह तीन प्रकार का वेद भी अभ्यन्तर परिग्रह में है।

छः नोकषाय—हास्यादिक छः अवस्था भी अभ्यन्तर परिग्रह में हैं। किसी के संयोग वियोग या पौद्गलिक लाभ हानि से कौतूहल पैदा होना, हास्य कहलाता है। किसी शुभ पदार्थ के संयोग से हर्ष या अशुभ पदार्थ के संयोग से विषाद करना, रति अरति कहलाता है। किसी अप्रिय पदार्थ को देख कर डरना, भय कहलाता है किसी प्रिय पदार्थ के वियोग से दुःखित होना, शोक कहलाता है। और प्रतिकूल तथा अरुचिकर पदार्थ से घृणा होना दुर्गछा कहलाता है। ये हास्य षटक् भी अभ्यन्तर परिग्रह में हैं।

चार कषाय—क्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाय भी अभ्यन्तर परिग्रह में हैं।

अभ्यन्तर परिग्रह के ये १४ भेद हैं। इन सब भेदों का सम्बन्ध केवल मन के विचारों से है, इनका बाह्य स्वरूप नहीं होता, इसीलिए इनकी गणना अभ्यन्तर परिग्रह में है।

बाह्य परिग्रह के प्रधानतः जड और चैतन्य ऐसे दो भेद हैं। सुविधा की दृष्टि से शास्त्रकारों ने, बाह्य परिग्रह के इन दो भेदों

को छः भागों में विभक्त कर दिया है। उनका कथन है, कि जितना भी बाह्य परिग्रह है, अर्थात् दृश्यमान जगत के जिन पदार्थों से आत्मा को ममत्व होता है, उन सब पदार्थों को छः श्रेणी में बांटा जा सकता है। वे छः श्रेणी इस प्रकार हैं धन—*धान्य क्षेत्र वस्तु द्विपद और चौपद। संसार का कोई भी पदार्थ-जिससे मनुष्य को ममत्व होता है—इन छः श्रेणी से बाहर नहीं रह जाता। इन छः श्रेणी में प्रायः समस्त पदार्थ आ जाते हैं। यदि चाहो, तो इन छः भेदों को भी कनक और कामिनी इन दो ही भेदों में लाया जा सकता है जड़ और चेतन्य पदार्थ में से किन्हीं उन दो पदार्थ को, जिनके प्रति सब से अधिक ममत्व होता है पकड़ लेने से दूसरे समस्त पदार्थ भी उनके अन्तर्गत आ जायेंगे। इसके लिए विचार करने पर मालूम होगा, कि मनुष्यों को बाह्य पदार्थों में सब से अधिक ममत्व कनक और कामिनी से होता है। कनक अर्थात् सोना—के अन्तर्गत समस्त जड़ पदार्थ आ जाते हैं, और कामिनी—अर्थात् स्त्री के अन्तर्गत समस्त चेतन्य पदार्थ आ जाते हैं। क्योंकि, बाह्य पदार्थों में, मनुष्य को इन दोनों से अधिक किसी पदार्थ से ममत्व नहीं होता। उत्तराध्ययन सूत्र में गौतम स्वामी को उपदेश देते हुए भगवान महावीर ने भी कहा है—

* नव प्रकार के बाह्य परिग्रह (जिसका वर्णन आगे है) में आये हुए हिरण्य सुवर्ण और कुप्प का समावेश भी धन में ही हो जाता है।

चिच्चाण धणंच भारियं पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मावं तं पुणो वि आविए समयं गोयम मा पमायए ॥

अर्थात्—हे गोतम, जिस धन स्त्री को त्याग कर, अणगार और प्रव्रजित हुवा है, उसके जाल में पुनः मत पड़ और इस ओर समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

परिग्रह के अभ्यन्तर और बाह्य भेदों का वर्णन संक्षेप में किया जा चुका। अब आगे जो वर्णन किया जा रहा है, वह विशेषतः बाह्य परिग्रह को लक्ष्य बनाकर। क्योंकि व्यवहार में बाह्य परिग्रह की ही प्रधानता है, लेकिन बाह्य परिग्रह का आधार अभ्यन्तर परिग्रह है जब तक अभ्यन्तर परिग्रह पूर्णव : विद्यमान है, तब तक तो यह प्राणी परिग्रह का रूप भी सुनना समझना नहीं चाहता, न यही मानता है, कि परिग्रह त्याज्य है। जब अभ्यन्तर परिग्रह का थोड़ा भी जोर कम होगा, कम से कम मिथ्यात्व रूप परिग्रह भी दूर होगा, तभी प्राणी यह सुन सकता है, कि अमुक वस्तु विचार या कार्य परिग्रह है। और फिर चारित्र मोहनीय का जितने अंश में क्षय उपशम या क्षयोपशम हुआ होगा उतने अंश में परिग्रप को त्याग भी सकेगा। यह समस्त वर्णन भी उन्हीं के लिये उपयोगी हो सकता है, जो अभ्यन्तर परिग्रह में से कम से कम मिथ्यात्व रूप परिग्रह से निवर्त चुके हों। ऐसे ही लोगों को यह बताना है, कि आत्मा पर परिग्रह का कैसा बोझ है। यह बात यद्यपि बताई जा रही है बाह्य परिग्रह के

नाम पर, लेकिन बाह्य परिग्रह और अभ्यन्तर परिग्रह का परस्पर अत्यधिक सम्बन्ध है। इसलिए बाह्य परिग्रह विषयक वर्णन के साथ अभ्यन्तर परिग्रह का वर्णन भी आप ही आ जावेगा। बाह्य परिग्रह के भेदोपभेद का विशेष वर्णन प्रसंगवश आगे होगा ही, फिर भी प्रश्न व्याकरण सूत्र में परिग्रह को वृक्ष का रूप देकर जो कुछ कहा गया है, यहाँ उसका वर्णन करना उचित होगा।

प्रश्न व्याकरण सूत्र में परिग्रह को वृक्ष का रूप देकर कहा है, कि इस परिग्रह रूपी वृक्ष की जड़ तृष्णा है। मणि हीरे जवा-हिरात आदि सब प्रकार के रत्न तथा अन्य मूल्यवान पदार्थ, सोना चांदी आदि द्रव्य, स्त्री परिजन दास दासी आदि द्विपद, घोड़ा हाथी बैल भैंस ऊँट गधे भेड़ बकरी आदि चतुष्पद रथ गाड़ी पालकी प्रभृति वाहन, अन्न आदि भोज्य पदार्थ, पानी आदि पेय पदार्थ, वस्त्र बर्तन सुगन्धित-द्रव्य, और घर खेत पर्वत खदान ग्राम नगर आदि पृथ्वी की इच्छा—मूर्छा, इस परिग्रह रूपी वृक्ष की जड़ है। प्राप्त वस्तु की रक्षा चाहना और अप्राप्त वस्तु की कामना करना, यह परिग्रह वृक्ष का मूल है। क्रोध मान माया लोभ, इसके स्कन्ध (कन्धे या जड़) है। प्राप्त की रक्षा और अप्राप्त की इच्छा से की गई अनेक प्रकार की चिन्ताएँ, इस वृक्ष की डालियाँ हैं। इन्द्रियों के काम-भोग, इस वृक्ष के पत्ते फूल तथा फल हैं। अनेक प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक क्लेश इस वृक्ष का कम्पन है। इस प्रकार परिग्रह एक वृक्ष के समान है, जिसका विस्तार ऐसा है।

यह तो कहा ही जा चुका है, कि ममत्व का नाम ही परिग्रह है। ममत्व रूपी परिग्रह की जड़, इच्छा और मूर्छा है। वस्तु के प्रति जो ममत्व-भाव होता है, वह एक तो इच्छा रूप होता है, और दूसरा मूर्छा, रूप। 'इच्छा' 'कामना' 'तृष्णा' या 'लोभ' कुछ भेद के साथ पर्यायवाची शब्द हैं। इसी प्रकार 'मूर्छा' 'गृद्धि' 'आसक्ति' 'मोह' और 'ममत्व' भी, कुछ भेद के साथ पर्यायवाची शब्द है। जो वस्तु अप्राप्त है, उसकी चाह होना, उसके न मिलने पर दुःखित और मिलने पर प्रसन्न होना, इच्छा तृष्णा या कामना है। और जो वस्तु प्राप्त है, उसकी रक्षा चाहना, उसकी रक्षा का प्रयत्न करना, उसकी रक्षा के लिए चिन्तित रहना, उसकी कोई हानि न हो, उसे कोई ले न जावे या वह वस्तु चली न जावे, इस प्रकार का भय होना, उस वस्तु में अनुरक्त रहना, उसमें अपना जीवन मानना और उसके जाने पर दुःख करना, यह मूर्छा है। इस प्रकार की इच्छा या मूर्च्छा का नाम ही ममत्व है, और जिस भी वस्तु के प्रति ममत्व है, वही परिग्रह है। तत्वार्थ सूत्र के रचयिता श्री उमा स्वामीजी ने भी कहा है—

मूर्छा परिग्रहः

[अध्याय ७ सूत्र १२]

अर्थात्—मूर्छा ही परिग्रह है।

[दो]
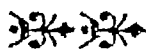
इच्छा-मूर्च्छा

कामानां हृदये वासः संसार इति कीर्तितः ।
तेषां सर्वात्मना नाशो मोक्ष उक्तो मनीषिभिः ॥

अर्थात्---बुद्धिमान् लोग कहते हैं, कि हृदय में कामनाओं का निवास ही 'संसार' (जन्म मरण) है, और समस्त कामनाओं का नाश ही 'मोक्ष' (जन्म मरण से छुटना) है ।

पहले अध्याय में यह कहा जा चुका है, ममत्व ही परिग्रह है यह ममत्व, इच्छा तथा मूर्छा रूप होता है । इस प्रकार इच्छा या मूर्छा का नाम ही ममत्व या परिग्रह है । इसलिये अब यह देखते हैं, कि इच्छा और मूर्छा का जन्म कैसे होता है, तथा इनका स्वरूप कैसा है ।

ससार में जन्म न लेनें वाले प्राणी कर्मलिप्त होते हैं। यदि कर्मलिप्त न हों, तो ससार में जन्म ही न लेना पड़े। यह बात दूसरी है, कि कोई जीव कर्मों से कम लिप्त है और कोई अधिक लिप्त है है, लेकिन जो ससार में जन्मा है वह कर्मलिप्त अवश्य है। कर्मलिप्त होने के कारण, आत्मा अपने स्वरूप को नहीं जानता, अथवा जानता भी है तो विश्वास या दृढ़ता नहीं रखता। आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। यह 'सत' अर्थात् सदा रहने वाला 'चिद्' अर्थात् चैतन्य रुप और 'आनन्द' अर्थात् सुख-निधान है। यह स्वयं सुख रुप है, फिर भी कर्मलिप्त होने के कारण अपने में रहा हुवा सुख नहीं देखता, स्वय में जो सुख है उसपर विश्वास नहीं करता, लेकिन चाहता है सुख ही। इसलिये जिस प्रकार स्वय की नाभी में ही सुगन्ध देने वाली कस्तूरी होने पर भी, मृग, घास फूस को सुंघ २ कर उसमें सुगन्ध खोजता है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वय में रहे हुवे सुखको भूल कर दृश्यमान जगत में सुख मानने लगता है। दृश्यमान जगत में सुख है, यह समझकर आत्मा बुद्धि को और बुद्धि मन को प्रेरित करती है, तथा मन उस सुख को प्राप्त करने के लिए चंचल हो उठता है। इस प्रकार मन में सांसारिक पदार्थो की इच्छा उत्पन्न होती है। अर्थात् बाह्य जगत में सुख मानने से मन में चंचलता आती है और मन की ऐसी चचलता से इच्छा का जन्म होता है।

मन विशेषत: इन्द्रियानुगामी होता है। यह इन्द्रियों के साथ

खाना अधिक पसन्द करता है। रुकावट न होने पर मन इन्द्रियों के प्रिय मार्ग पर ही चलता है और इन्द्रियाँ, स्वयं द्वारा ग्राह्य विषयों में ही सुख मानती हैं। यद्यपि विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियां ज्ञानेन्द्रिय कहलाती हैं, उनका काम पदार्थों का ज्ञान कराना है, लेकिन जब बुद्धि मन के अधीन होजाती, और मन इन्द्रियों का अनुगामी बन जाता है, इन्द्रियों के साथ हो जाता है, तब इन्द्रियाँ स्वेच्छाचारिणी बन जाती हैं तथा विषयों में सुख मान कर उनकी ओर दौड़ने लगती हैं। इस प्रकार कर्मलिप्त होने के कारण आत्मा, सुख चाहता हुवा भी बुद्धि पर शासन नहीं कर सकता। बुद्धिसे उसे अच्छी सम्मति नहीं मिलती, किन्तु मन की इच्छानुसार सम्मति मिलती है और मन इन्द्रियानुगामी हो जाता है, इसलिए वह इंद्रियों की रुचि के अनुसार ही इच्छा करता है। इस तरह इन्द्रिय मन और बुद्धि के अधीन होकर आत्मा इन्द्रिय ग्राह्य विषयों में ही सुख मानने लगता है और मन को ऐसी ही सुखों की इच्छा करने के लिए—ऐसे ही सुख प्राप्त करने के लिए—बुद्धि द्वारा प्रेरित करता है इस प्रकार सांसारिक पदार्थों की इच्छा का जन्म होता है।

मनुष्य को जिन सांसारिक पदार्थों की इच्छा होती है, वे पदार्थ शब्द रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, या इनमें से किसी एक विषय का पोषण करने वाले ही होते हैं। ऐसा कोई ही पदार्थ होगा, जिसके प्रति इच्छा तो है लेकिन वह पदार्थ शब्द रूप, रस,

गन्ध और स्पर्श इन पाँचों या इन में से किसी एक का पोषक नहीं है। प्रायः प्रत्येक पदार्थ की इच्छा, इन्द्रियों और मन की विषय लोलुपता से ही होती है। इस प्रकार विचार करने से इस निर्णय पर आना होता है कि मन की चञ्चलता और इन्द्रियों की स्वच्छन्दता से इच्छा का जन्म होता है।

इच्छा के साथ ही मूर्छा का भी जन्म होता है। इच्छा और मूर्छा का अविनाभावी सम्बन्ध है। जैसे धुएँ के साथ आग का सम्बन्ध है—जहाँ धुआँ है वहाँ आग भी है—उसी प्रकार जहाँ इच्छा है, वहाँ मूर्छा भी है और जहाँ मूर्छा है, वहाँ इच्छा तो है ही।

जीव जब संसार में जन्मता है, तब पूर्व जन्म के संस्कार होने के कारण सांसारिक पदार्थों की इच्छा भी साथ ही जन्मती है। फिर जैसे जैसे अवस्था बढ़ती जाती है, मन में चंचलता आती जाती है, पदार्थ-जगत का परिचय होता जाता है, पूर्व संस्कार विकसित होते जाते हैं और कल्पनाशक्ति की वृद्धि होती जाती है, वैसे ही वैसे इच्छा की भी वृद्धि होती जाती है। अवस्था मन पदार्थों का परिचय और कल्पनाशक्ति की वृद्धि के साथ ही इच्छा की भी वृद्धि होती जाती है, और होते होते इच्छा का ऐसा रूप हो जाता है, जिसके लिए शास्त्र में कहा है—

इच्छा हु आगास समा अणन्तिया।

अर्थात्—जैसे आकाश का अन्त नहीं है, उसी प्रकार इच्छा का भी अन्तः नहीं है।

मनुष्य जब जन्मता है तब उसकी इच्छा माता के दूध आदि तक ही रहती है, अधिक नहीं होती। लेकिन फिर वह जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है, उसकी इच्छा भी बढ़ती जाती है। जो मनुष्य बचपन में केवल माता के दूध की ही इच्छा करता था, वह कुछ बड़ा होकर खाद्य पदार्थों, खेल-सामग्री या ऐसी ही दूसरी चीजों की इच्छा करने लगता है। फिर जब और बड़ा होता है, तब कपड़े लत्ते और खाद्य तथा खेल सामग्री के लिए पैसे आदि की इच्छा करता है। फिर जब और बड़ा होता है, तब स्त्री पुत्र पौत्र धन-दौलत प्रभृति की इच्छा करता है। इस प्रकार वह जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है और सांसारिक पदार्थों को अधिक-अधिक जानता जाता है, उसकी इच्छा भी बढ़ती ही जाती है।

मनुष्य विशेषतः इहलौकिक और पारलौकिक पदार्थों की इच्छा करता है लेकिन उसकी इच्छा इहलौकिक या पारलौकिक देखे सुने हुए पदार्थों तक ही सीमित नहीं रहती; किन्तु जिन पदार्थों को कभी देखा सुना नहीं है, उन पदार्थों की भी कल्पना करता है, और उनकी भी इच्छा करता है। इस प्रकार इच्छा अनन्त ही रहती है, उसका अन्त नहीं आता। अर्थात् यह नहीं होता, कि अब इच्छा नहीं है। बुढ़ापा आने पर तो इच्छा बहुत ही बढ़ जाती है। उस समय वह कैसी होती है, इसके लिए एक

कवि कहता है—

वलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितैरंकितं शिरः ।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥

अर्थात्—बुढ़ापे के कारण मुँह पर सल पड़ गये हैं, सिर के बाल पक कर सफेद हो गये हैं, और शरीर के सब अंग शिथिल हो गये हैं लेकिन तृष्णा तो जवान हो गई है। पहले से भी बढ़ गई है।

तात्पर्य यह कि मनुष्य के साथ ही इच्छा का भी जन्म होता है, लेकिन मनुष्य की आयु तो क्षीण होती जाती है, और इच्छा वृद्धि पाती जाती है। अवस्था के कारण तृष्णा की वृद्धि तो अवश्य होती है, परन्तु उसमें न्यूनता नहीं आती।

इच्छानुसार पदार्थों की प्राप्ति भी इच्छा को घटाने में समर्थ नहीं है पदार्थों का मिलना भी, इच्छा की वृद्धि का ही कारण है। संसार में ऐसा एक भी व्यक्ति न होगा, जिसकी इच्छा, इच्छानुसार पदार्थ मिलने से नष्ट हो गई हो। ऐसा होता ही नहीं है। हाँ, पदार्थों के मिलने से इच्छा की वृद्धि अवश्य होती है। इच्छा की जैसे-जैसे पूर्त्ति होती जाती है, वैसे ही वैसे वह तीव्र गति से बढ़ती जाती है। जो मनुष्य कभी पेट भरने के लिए रूखी सूखी रोटी और ठंड से बचने के लिए फटे मोटे कपड़े की इच्छा करता है, वही इनके प्राप्त होजाने पर स्वादिष्ट भोजन और

सुन्दर वस्त्रों की इच्छा करता है। जब ये भी प्राप्त हो जाते हैं, तब थोड़े से धन की इच्छा करता है, और साथ ही साथ स्त्री सुन्दर भवन तथा भोगविलास की सामग्री भी चाहता है। इन सबके मिल जाने पर पुत्र पौत्र आदि की, फिर थोड़ी-सी भूमि की, थोड़े से अधिकार की, फिर राज्य की, साम्राज्य की, समस्त पृथ्वी की और स्वर्गादि के प्रभुत्व की इच्छा करता है। एक कवि ने कहा ही है—

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये—
स पश्चात्संपूर्णः कलयति धरित्रीं तृण समाम्।
अतश्चानैकान्त्याद्गुरु लघुतयार्थेषु धनिना—
मवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च॥

अर्थात्—जब मनुष्य दरिद्री होता है, तब तो एक पस जौ की भूसी की ही इच्छा करता है, पर जब धनवान हो जाता है, तब सारी पृथ्वी को भी तृण समान् मानता है। इस प्रकार मनुष्य की अवस्था विशेष ही वस्तु के विषय में भिन्नता पैदा करती है।

इस प्रकार जब तक कोई वस्तु प्राप्त नहीं है, तब तक तो मनुष्य को उस अप्राप्त वस्तु की ही इच्छा होती है, लेकिन जब वह अप्राप्त वस्तु प्राप्त हो जाती है, तब उससे भी आगे की अप्राप्त वस्तु की इच्छा करता है। जैसे जैसे पदार्थ प्राप्त होते जाते हैं, वैसे ही वैसे उनसे आगे के बढ़िया पदार्थ की इच्छा होती है। इस तरह संसार की सामग्रियों का अन्त तो आ सकता है, लेकिन

इच्छा का अन्त नहीं आता। इच्छा का किस प्रकार अन्त नहीं आता, यह बतलाने के लिए ग्रन्थों में एक कथा आई है। यहाँ उस कथा का वर्णन प्रासंगिक होगा।

मम्मन नाम के एक सेठ के पास ६६ क्रोड़ सोनैया की सम्पत्ति थी। उसने सोचा कि मेरी यह विशाल सम्पत्ति मेरे लड़के खर्च कर देंगे, इसलिए कोई ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे लड़के इस सम्पत्ति को खर्च न कर सकें, किन्तु इसकी वृद्धि करते रहें। मम्मन सेठ इस विषयक उपाय सोचा करता। अन्त में उसने इसका उपाय सोच लिया। उसने अपने घर के भूमिगृह में एक सोने का बैल बनवाया, जिसको चारों ओर मणि माणिक आदि मूल्यवान रत्न लगे हुए थे। मम्मन सेठ ने प्रायः अपनी समस्त सम्पत्ति लगा कर वह बैल तयार कराया। जब बैल बन कर तयार हो गया, तब मम्मन सेठ बहुत ही प्रसन्न हुआ; लेकिन साथ ही उसे यह विचार हुआ कि अकेला होने के कारण यह बैल शोभा हीन है। इसलिए ऐसा ही एक बैल और बनवा कर इस बैल की जोड़ी मिला देनी चाहिए।

स्वर्ण-रत्न से बने हुए बैल की जोड़ी मिलाने के विचार से प्रेरित होकर मम्मन सेठ, फिर धन कमाने लगा। यह धन के लिए न्याय अन्याय झूठ सत्य आदि किसी भी बात की पर्वा न करता। उसका एकमात्र उद्देश्य पुनः उतनी ही सम्पत्ति प्राप्त करना था, जितनी सम्पत्ति लगाकर उसने भूमिगृह में स्वर्ण-रत्न

का बैल बनवाया था। दिन रात वह इसी चिन्ता में रहता, कि मेरा उद्देश्य कैसे पूरा हो। उसे रात के समय पूरी तरह नींद भी न आती। यद्यपि वह धन के लिए अन्य समस्त बातों की उपेक्षा करता था, फिर भी ६६ क्रोड़ के लगभग सम्पत्ति एकत्रित करना कोई सरल बात न थी, जो चटपट एकत्रित कर लेता।

वर्षा के दिन थे। रात के समय बिस्तर पर पड़ा हुआ मम्मन सेठ यही सोच रहा था, कि किसी प्रकार बैल की जोड़ का दूसरा बैल बने। सहसा उसे ध्यान हुआ, कि वर्षा हो रही है और नदी पूर है, इसलिए नदी में लकड़ियाँ बह कर आती होंगी। मैं पड़ा-पड़ा क्या करता हूँ! नदी से लकड़ियां ही क्यों न निकाल लाऊ! दस पांच रुपये की भी लकड़ियां मिल गई, तो क्या कम होंगी!

जिसकी इच्छा बढ़ी हुई है, वह चाहे जैसा बड़ा हो और स्वयं को चाहे जैसा प्रतिष्ठित मानता हो, लेकिन उसे मम्मन सेठ की तरह किसी कार्य के करने में विचार या सकोच न होगा। फिर चाहे वह कार्य उसकी प्रतिष्ठा के अयोग्य ही क्यों न हो!

मम्मन सेठ नदी पर गया। वह, नदी के बहाव में आनेवाली लकड़ियों को पकड़-पकड़ कर निकालने और एकत्रित करने लगा। जब लकड़ियाँ बोझ भर हो गई, तब मम्मन सेठ बोझ को सिर पर रख कर घर की ओर चला। चलते चलते वह राजा के महल के पास आया। उस समय रानी, झरोखे की ओर से वर्षा की

बहार देख रही थी। योगायोग से उसी समय बिजली चमक उठी। बिजली के प्रकाश में रानी ने देखा, कि एक आदमी सिर पर लकड़ियों का बोझ लिये नदी की ओर से चला आ रहा है। यह देख कर रानी ने राजा से कहा, कि महाराज, आपके नगर में कैसे कैसे दुःखी हैं, यह तो देखिये! अन्धेरी रात का समय है, बादल गरज रहे हैं और वर्षा हो रही है, फिर भी यह आदमी लकड़ी का बोझ लिये जा रहा है। यदि यह दुःखी न होता, तो इस समय घर से बाहर क्यों निकलता और कष्ट क्यों उठाता! आपको अपनी प्रजा का कष्ट मिटाना चाहिये। ऐसा करना आपका कर्त्तव्य है। कहावत ही है, कि—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवस नरक अधिकारी॥

रानी के कहने से राजा ने भी मम्मन सेठ को देखा। 'वास्तव में यह दुखी है और इसका दुःख अवश्य मिटाना चाहिए' इस विचार से राजा ने एक सिपाही को बुला कर उससे कहा, कि महल के नीचे जो आदमी जा रहा है, उससे कह दो कि वह सवेरे दरबार में हाजिर हो।

सिपाही गया। उसने मम्मन सेठ को राजा की आज्ञा सुनाई। मम्मन सेठ ने कहा—मैं महाराज की आज्ञानुसार सवेरे हाजिर होऊँगा।

दूसरे दिन सवेरे, अच्छे कपड़े लत्ते पहन कर मम्मन सेठ दरबार में पहुँचा। राजा ने उससे आने का कारण पूछा। मम्मन सेठ ने कहा कि—आपने रात के समय सिपाही द्वारा, मुझे दरबार में हाजिर होने की आज्ञा दी थी, तदनुसार मैं हाजिर हुआ हूँ। राजा ने कहा कि—मैंने तो उस आदमी को हाजिर होने की आज्ञा दी थी, जो रात के समय लकड़ी का बोझ लिये नदी की ओर से आया था। तुम्हारे लिये हाजिर होने की आज्ञा नहीं दी थी। मम्मन सेठ ने उत्तर में कहा कि—वह व्यक्ति मैं ही हूँ। राजा ने साश्चर्य पूछा कि भयंकर रात में सिर पर लकड़ी का गट्ठा रखे हुए नदी की ओर से क्या तुम्हीं चले आ रहे थे?

मम्मन—हाँ महाराज।

राजा—तुम्हें ऐसा क्या कष्ट है, जो उस समय नदी में से लकड़ी निकालने गये थे? यदि कोई जानवर काट खाता अथवा नदी के प्रवाह में बह जाते तो?

मम्मन—महाराज, मुझे एक बैल की जोड़ मिलानी है, जिसके लिए धन की आवश्यकता है। इसी लिए मैं रात को नदी के बहाव से लकड़ियां निकालने के लिए गया था।

मम्मन सेठ के कथन से राजा ने समझा, कि बनिये लोग स्वभावतः कृपण हुआ करते हैं, इसलिए कृपणता के कारण यह सेठ अपने पास से पैसे लगा कर बैल नहीं लाना चाहता, किन्तु इधर उधर से पैसे एकत्रित करके उनसे बैल लाना चाहता है।

यह विचार कर राजा ने मम्मन सेठ से कहा कि—बस इसीलिए अपने प्राणों को इस प्रकार आपत्ति में डाला था ? तुम्हें जैसा भी चाहिए वैसा एक बैल मेरी पशुशाला से ले जाओ।

मम्मन—मेरे यहाँ जो बैल है, उसकी जोड़ का बैल आपके यहां नहीं हो सकता।

राजा—मेरे यहाँ वैसा बैल नहीं है, तो खजाने से रुपये लेकर वैसा बैल खरीद लाओ !

मम्मन-महाराज, वैसा बैल मोल भी नहीं मिल सकता।

राजा-तुम्हारा बैल कैसा है, जिसकी जोड़ का बैल मेरी पशुशाला में भी नहीं मिल सकता और मोल भी नहीं मिल सकता ! तुम्हारे उस बैल को यहाँ मंगवाओ, मैं देखूँगा।

मम्मन-वह बैल यहाँ नहीं आ सकता। हां यदि आप मेरे घर पधारें, तो उस बैल को अवश्य देख सकते हैं।

राजा ने मम्मन सेठ के यहाँ जाना स्वीकार किया। राजा को साथ लेकर मम्मन सेठ अपने घर गया। वह, राजा को तहखाने में ले गया और स्वर्ण-रत्न का बैल बता कर कहा कि महाराज, मैं इस बैल की जोड़ मिलाना चाहता हूं। उस रत्नजटित स्वर्ण-बैल को देख कर, राजा दंग रह गया। वह सोचने लगा कि—इस बैल को बनवाने में जितनी सम्पत्ति लगी है, उतनी सम्पत्ति से जब इसको सन्तोष नहीं हुआ, तब ऐसा दूसरा बैल पाकर इसे कब सन्तोष होगा !

इस प्रकार विचार कर, राजा लौट आया। उसने रानी से कहा कि—रानी, रात के समय तुमने जिस आदमी को सिर पर लकड़ी का गट्ठा लेकर जाते देखा था, वह आदमी यहां का एक धनिक सेठ है। उसको और किसी कारण दुःख नहीं है, किन्तु तृष्णा के कारण दुःख है, जिसे मिटाने में मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। उसने ९९ क्रोड़ सोनैया की लागत का एक बैल बनवाया है, जो सोने का है और जिस पर रत्न जड़े हुए हैं। इतनी सम्पत्ति होने पर भी, उसकी तृष्णा शान्त नहीं है और वह वैसा ही दूसरा बैल बनवाना चाहता है। कौन कह सकता है, कि वैसा दूसरा बैल बनवा लेने पर उसकी तृष्णा शान्त हो जावेगी और वह सुखी हो जावेगा। ऐसा आदमी—जब तक उसकी तृष्णा बढ़ी हुई है तब तक-कदापि सुखी नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह, कि इच्छा का अन्त न तो अवस्था बीतने से ही आता है, न पदार्थों के मिलने से ही आता है। इसी कारण एक कवि ने कहा है—

जो दस बीस पचास भये शत लक्ष करोर की चाह जगेगी।
अरब खरब लों द्रव्य बढ्यो तो धरापति होने की आश लगेगी॥
उदय अस्त तक राज्य मिल्यो पर तृष्णा और ही और बढ़ेगी।
'सुन्दर' एक सन्तोष बिना नर तेरी तो भूख कभी न मिटेगी॥

इच्छा की तरह मूर्छा भी मनुष्य के साथ ही जन्मती है और उत्तरोत्तर वृद्धि पाती जाती है। बचपन में मनुष्य माता और

माता के दुध से ही ममत्व करता है । फिर, खेलने के पदार्थ और खाद्य पदार्थ से भी । इसी प्रकार अवस्था के बढ़ने से जैसी तृष्णा बढ़ती है, उसी प्रकार मूर्छा भी बढ़ती जाती है । मूर्छा भी कभी शान्त नहीं होती । वृद्धत्व के कारण भी मूर्छा के अस्तित्व में अन्तर नहीं पड़ता । बल्कि वृद्धत्व मूर्छा की वृद्धि करता है । बच-पन और जवानी में किसी पदार्थ के प्रति जितनी मूर्छा होती है, उससे कई गुनी अधिक मूर्छा बुढ़ापे में हो जाती है । बचपन या जवानी में कोई व्यक्ति प्राप्त पदार्थ के व्यय में जिस प्रकार की उदारता रखता है वृद्धावस्था आने पर प्रायः वैसी उदारता नहीं रहती वृद्धावस्था आने पर उसे, पहले की तरह पदार्थ को अपने से दूर करने में दुखः होता है, और यदि विवश होकर उसे पदार्थ त्यागना पड़ता है, अथवा उसकी इच्छा के विरुद्ध उससे पदार्थ छूट जाता है, तो उसको उस समय—बचपन या जवानी में उक्त कारण से जो दुखः हो सकता है उससे—कई गुना अधिक दुखः होता है । इस प्रकार अवस्था के कारण मूर्छा की वृद्धि तो अवश्य होती है पर उसमें न्यूनता नहीं आती । अधिक पदार्थों की प्राप्तिभी मूर्छा को न्यून नहीं करती, किन्तु वृद्धि ही करती है । आज जिस के पास केवल चार पैसे हैं, । उसकी मूर्छा उन चार पैसों में ही रहती है, लेकिन आगे यदि उसे विशाल राज्य प्राप्त हो जावे, तो वह उस राज्य में मूर्छित रहने लगता है । फिर उसको यह विचार नहीं होता, कि मेरे पास तो केवल चार ही पैसे थे, अतः

मैं इस राज्य पर मूर्छा क्यों करूँ ! वह उसमें मूर्छित रहता है और आगे यदि उसे विशाल साम्राज्य प्राप्त हो जावे, तो उस व्यक्ति में उस साम्राज्य के प्रति भी मूर्छा रहेगी।

तात्पर्य यह, कि जिस प्रकार अवस्था या पदार्थों की प्राप्ति के कारण तृष्णा कम नहीं होती, किन्तु वृद्धि पाती है, उसी प्रकार अवस्था या पदार्थों के आधिक्य के कारण मूर्छा में भी कमी नहीं होती। पदार्थों का आधिक्य, मूर्छा में वृद्धि ही करता है, कमी नहीं लाता। जिसके पास जितने अधिक पदार्थ हैं, उसकी मूर्छा उतनी ही अधिक बढ़ी हुई है। वह उन सब को प्रिय समझता है, उनमें से प्रत्येक के जाने पर दुखः करता है और कभी-कभी उनके वियोग के दुःख से वह प्राण तक दे देता है।

यहाँ यह विचार करना भी आवश्यक है, कि इच्छा और मूर्छा का अन्त क्यों नहीं होता। इच्छा और मूर्छा का अन्त न होने का कारण यह है, कि आत्मा सुख का इच्छुक है वह सुख प्राप्ति के लिए ही सांसारिक पदार्थों की इच्छा और उनसे मूर्छा करता है, लेकिन सांसारिक पदार्थों में सुख है ही नहीं। सुख तो स्वयं आत्मा में ही है, परन्तु स्वयं में जो सुख है, अज्ञान अथवा भ्रमवश उसको न देख कर आत्मा बाह्य पदार्थों में सुख मानता है; किन्तु बाह्य पदार्थों में सुख नहीं है, इसलिये सुख की इच्छा से आत्मा जिसे पकड़ता है, सुख उससे आगे के पदार्थों में दिखाई देता है। जैसे मृगतृष्णा को देखकर मृग जल की आशा से दौड़

कर जाता है, लेकिन उसको जल और आगे ही आगे जाता हुआ जान पड़ता है, इसलिए वह आगे दौड़कर जाता है। इस प्रकार मृग-तृष्णा में जल की खोज करता हुआ वह दौड़ता दौड़ता मर जाता है, परन्तु उसे मृगतृष्णा से जल नहीं मिलता। इसी प्रकार आत्मा पहले किसी एक पदार्थ में सुख देखता है, लेकिन जब वह पदार्थ प्राप्त हो जाता है, तब उस पदार्थ में उसे सुख नहीं जान पड़ता, किन्तु अप्राप्त पदार्थ में सुख जान पड़ने लगता है। इसीलिए उस अप्राप्त पदार्थ की इच्छा करता है। इस प्रकार सुख की इच्छा से वह अधिकाधिक आगे के पदार्थ की इच्छा करता जाता है, परन्तु उसे किसी भी पदार्थ में सुख नहीं मिलता। फिर भी आत्मा को भ्रम यही रहता है, कि सुख इन पदार्थों में ही है। इस भ्रम के कारण वह पदार्थों की इच्छा करता ही जाता है। यहाँ तक कि पदार्थों का अन्त तो आ जाता है, परन्तु इच्छा का अन्त नहीं आता, और जब इच्छा का अन्त नहीं आता, तब मूर्छा का अन्त कैसे आ सकता है। इस प्रकार जब तक आत्मा स्वयं में रहे हुए सुख को नहीं देखता, किन्तु बाह्य पदार्थों में सुख मानता है, तब तक इच्छा और मूर्छा का भी अन्त नहीं हो सकता।

इच्छा से मूर्छा का और मूर्छा से संग्रहबुद्धि का जन्म होता है। इच्छित पदार्थ के मिलने पर, उससे मूर्छा होती है, और जिसके प्रति मूर्छा है, उसको त्यागा नहीं जा सकता। इसलिए उसको संग्रह करता है। यद्यपि पदार्थ की इच्छा सुख-प्राप्ति के

लिए ही होती है, और इच्छित पदार्थ के मिल जाने पर उसमें सुख नहीं जान पड़ता—किन्तु दूसरे अप्राप्त पदार्थ में सुख जान पड़ने लगता है—फिर भी आत्मा प्राप्त पदार्थ को छोड़ना नहीं चाहता। उस प्राप्त पदार्थ से उसे ममत्व हो जाता है, इसलिये ऐसे पदार्थ को संग्रह करता जाता है। इस प्रकार इच्छा से मूर्छा का और मूर्छा से संग्रह बुद्धि का जन्म होता है।

सारांश यह, कि कर्मलिप्त होने के कारण स्वय में रहे हुए सुख को भूल कर, भ्रम या अज्ञानवश सुख को स्वय से भिन्न मानने लगता है। इससे इच्छा और मूर्छा का जन्म होता है और इच्छा मूर्छा ही, ममत्व अथवा परिग्रह है। भ्रमवश दूसरे पदार्थों में सुख देखने और उनकी इच्छा तथा उनके प्रति मूर्छा रखने से आत्मा की क्या हानि है, यह बात साधारण रूप से इस प्रकरण के प्रारम्भ के श्लोक में बताई जा चुकी है, फिर भी इस पर कुछ अधिक प्रकाश डालना उचित है। लेकिन ऐसा करने से पहले एक बात को स्पष्ट कर देना आवश्यक है, जिससे समझने में गलती न हो। इस प्रकरण में उसी इच्छा का वर्णन है, जो संसार-बन्धन में डालनेवाली है। जो इच्छा संसार-बन्धन से निकलने के लिए होती है, उस इच्छा का इस वर्णन से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि आत्मा को जन्म-मरण के कार्यों से छुड़ाने वाली इच्छा ही प्रशस्त है। जो आत्मा को संसार-बन्धन में डालती है, इस कारण वही इच्छा अप्रशस्त है।

इस प्रकरण के प्रारम्भ में यह कहा गया है, कि हृदय में इच्छाओं का निवास ही जन्म-मरण का कारण है। यह बात सिद्ध करने के लिए, यहाँ विशेष रूप से विचार किया जाता है। संसार में जन्मने मरने का कारण, कर्म-बन्ध है। जब तक कर्म से सम्बन्ध है, तब तक आत्मा को जन्म-मरण करना ही होता है। इच्छा, मूर्छा, संग्रहबुद्धि रूप परिग्रह, कर्मबन्ध का ही कारण है और वह भी अशुभ कर्म-बन्ध का। परिग्रह के कारण अशुभ कर्म का बन्ध कैसे तथा किन कारणों से होता है, इस बात का विशेष विचार अगले प्रकरण में किया गया है, तथापि यहाँ यह बताना उचित है कि आत्मा और अन्य पदार्थों के स्वरूप गुण तथा स्वभाव में विषमता है। जितने भी सांसारिक पदार्थ हैं, वे सब पुद्गलों के संयोग से बने हैं और संयोग में आना तथा विलग होना पुद्गलों का ही स्वभाव है। इस कारण सांसारिक पदार्थ बनते भी हैं और नष्ट भी होते हैं। वे स्थिर नहीं होते किन्तु अस्थिर होते हैं। जो पदार्थ आज दिखाई देता है, वह कल नष्ट भी हो सकता है और जो आज नहीं है, वह कल बन भी सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है, कि पदार्थ द्रव्य से ही नष्ट हो जाता है ... (पुद्गल) नष्ट नहीं होता, उसका रूपान्तर मात्र होता ... लेकिन पर्याय से पदार्थ नष्ट हो जाता है। इस प्रकार ... समस्त पदार्थ—जिनका निर्माण पुद्गलों से हुआ है— ... हैं, लेकिन आत्मा ऐसे पदार्थों से भिन्न स्वभाव वाला है ... अविनाशी है। उसका रूप कभी नहीं बदलता। यह, ...

और आनन्द स्वरूप है । इस प्रकार सांसारिक पदार्थ और आत्मा में साम्य नहीं है, किन्तु वैषम्य है और जिनमे वैषम्य है, उन दोनों में किसी प्रकार का स्थायी सम्बन्ध नहीं हो सकता । यदि उन दोनों में कोई सम्बन्ध दिखाई भी देता हो, तो वह अल्पकाल के लिए ही है । अधिक समय तक नहीं रह सकता । उन दोनों का सम्बन्ध अवश्य ही भग हो जावेगा । आत्मा अविनाशी है और पदार्थ नाशवान है । आत्मा मिलता विखरता नहीं है, और पुद्गल मिलते बिखरते हैं । आत्मा चैतन्य है, और पुद्गल जड हैं । इस प्रकार आत्मा और पदार्थ पुद्गल का किसी भी दृष्टि से साम्य नहीं है ।

जीव और पुद्गल में साम्य नहीं है, फिर भी अज्ञान में पडा हुवा जीव, पुद्गलों से स्नेह करता है । उनको स्वमय समझता है, और प्रत्येक व्यवहार ऐसा समझ कर ही करता है । इस कारण आत्मा अपने स्वरूप को भूला हुवा है और जड पुद्गलों को स्वमय मान कर स्वयं भी जडसा बन रहा है । यह स्वयं को पुद्गल मय और पुद्गलों को स्वमय मान बैठा है, परन्तु न तो आत्मा पुद्गलों का है न पुद्गल आत्मा के हैं ।

उदय भाव जन्य आत्मा जिन पदार्थों को अपना समझता है, उनमें सबसे पहला शरीर है । शरीर के साथ आत्मा बधा हुवा है, इससे आत्मा समझता है कि मैं शरीर मय ही हूँ । यह शरीर को अपना समझता है लेकिन जिसे अपना समझता है उस शरीर में

आत्मा का क्या है ! यदि शरीर आत्मा का हो, तो आत्मा की इच्छा के विरुद्ध शरीर में रोग बुढ़ापा आदि क्यों आवे ! आत्मा स्वयं तो चाहता नहीं है कि शरीर में रोग हो, या शरीर जरा मृत्यु से पीड़ित हो। फिर भी ऐसा होता ही है। ऐसी दशा में शरीर, आत्मा का कैसे रहा ! और आत्मा का शरीर से क्या सम्बन्ध रहा !

शरीर के पश्चात् माता पिता स्त्री पुत्र भाई बन्धु आदि को अपना समझ कर आत्मा उनसे स्नेह करता है, परन्तु वे भी आत्मा के कैसे हो सकते हैं। जिनको आत्मा अपना समझता है वे, आत्मा की इच्छा के विरुद्ध मर जाते हैं, या आत्मा के ही शत्रु बन जाते हैं। ऐसी दशा में उनसे भी आत्मा का क्या स्थायी सम्बन्ध रहा और ये भी आत्मा के कैसे रहे !

इनसे आगे आत्मा, धन राज्य आदि को अपना समझता है, उनसे स्नेह करता है, उन्हें प्राप्त करने की कांक्षा तथा चेष्टा करता है, परन्तु उन सबसे भी आत्मा का कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं है। यदि ये सब या उनमें से कोई आत्मा का हो, तो फिर आत्मा से उनके वियोग का क्या कारण है ? आत्मा की इच्छा के विरुद्ध वे सब क्यों छूट जाते हैं ! आत्मा के न चाहने पर भी ये सब आत्मा से छूट जाते हैं, इस कारण उनसे भी आत्मा का कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं रहा।

इसी प्रकार संसार के प्रत्येक पदार्थ के विषय में विचार करने पर मालूम होगा, कि आत्मा से उनका सम्बन्ध नहीं है,

फिर भी आत्मा उन्हें अपना मान बैठा है । आत्मा को यह भी विचार नहीं होता, कि जिसको मैं अपना कह या समझ रहा हूँ, उसीको कौन कौन अपना मान या कह रहे हैं । जिस शरीर को आत्मा अपना मानता है, उसी शरीर को उसमें रहने वाले कीटाणु भी अपना मानते हैं, किन्तु शरीर किसी का भी नहीं है । वह तो पंचभूत की सहायता से बना हुआ पुतला मात्र है, जो एक दिन नष्ट होजाता है, और 'मेरा मेरा' कहने वाले धरे ही रह जाते हैं । जिस घर को अपना माना जाता है, उसी घर को अनेक दूसरे जीव भी अपना मानते हैं । उस घर में रहने वाले सभी मनुष्य पशु पक्षी कीटाणु आदि घर को अपना मानते हैं, लेकिन वह घर किसी का भी नहीं है । इसी प्रकार संसार के अन्यान्य पदार्थों को भी आत्मा अपना मान कर उनसे ममत्व करता है, लेकिन इसी तरह वे भी आत्मा के नहीं हैं ।

तात्पर्य यह, कि आत्मा का सांसारिक पदार्थों से किसी भी दृष्टि से साम्य नहीं है, और इसलिए इन दोनों का स्थायी सम्बन्ध भी नहीं हो सकता । फिर भी आत्मा उनमें सुख मान कर उनसे अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहता है और उनके प्रति मूर्छा करता है, तथा वह इच्छा मूर्छा ऐसी होती है, कि सांसारिक पदार्थों की ओर से कभी सन्तोष ही नहीं आता । उसका असन्तोष बढ़ता ही जाता है । आत्मा चाहे सारे भौतिक संसार का आधिपत्य करता हो, तब भी असन्तोष तो बना ही रहता है । तृप्ति तो होती ही नहीं है । शम्भु चक्रवर्ती के लिए यह प्रसिद्ध ही है, कि

वह सम्पूर्ण छः खण्ड पृथ्वी का स्वामी था, फिर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ और उसने सातवाँ खण्ड साधने की तयारी की थी। सम्मन सेठ के असन्तोष की कथा पहले दी जा चुकी है। रावण के अनेक स्त्रियाँ थीं, फिर भी उसको सन्तोष नहीं हुआ और उसने सीता को अपनी स्त्री बनाने का असफल प्रयत्न किया ही।

आत्मा, एक तो अपने रूप गुण और स्वभाव से भिन्न रूप गुण तथा स्वभाव वाले पदार्थ से ममत्व करता है, इस कारण अपने स्वरूप को नहीं जान पाता। और जब तक अपने स्वरूप को जान कर बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध विच्छेदन नहीं करता, तब तक मुक्त नहीं हो सकता। दूसरे, आत्मा में सांसारिक पदार्थों के प्रति जो इच्छा मूर्छा होती है, वह मरण काल में भी नहीं मिटती, किन्तु शरीर त्यागने के पश्चात् भी संस्कार रूप से विद्यमान रहती है। इस कारण भी आत्मा जन्म-मरण से छुटकारा नहीं पाता, किन्तु जन्म-मरण करता ही रहता है। आत्मा में जब तक सांसारिक पदार्थों के प्रति इच्छा मूर्च्छा है—फिर चाहे वह संस्कार रूप ही क्यों न हो—तब तक वह जीवनमुक्त नहीं हो सकता। जीवनमुक्त तो तभी हो सकता है, जब उसमें इच्छा मूर्छा का अस्तित्व ही न रहे। तीसरे, इच्छा मूर्छा के कारण आत्मा पाप कर्म बांधता है, इस कारण भी उसको संसार में पुनः पुनः जन्म-मरण करना पड़ता है। इस तरह आत्मा के लिए इच्छा मूर्छा, संसार में जन्म-मरण कराने और नरक तिर्यञ्च आदि योनि में होनेवाले दुःख दिलाने का कारण भूत है।

[तीन]

परिग्रह से हानि

कलह कलभ विन्ध्यः क्रोध गृध्र श्मशानम् ।
व्यसन भुजग रन्ध्रं द्वेष दस्यु प्रदोषः ॥
सुकृत वन दवाग्नि मार्दवांभोद वायु-
र्नयनलिन तुषारोऽत्यर्थमर्थानुरागः ॥

अर्थात्—अर्थानुराग (ममत्व) कलह रूपी बालहाथी को क्रीड़ा करने के लिये विन्ध्याचल के समान है । जिस प्रकार हाथी का बच्चा वन पर्वत में क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार जहाँ परिग्रह है, वहाँ कलह क्रीड़ा करता है । कलह का स्थान परिग्रह ही है । क्रोध रूपी गिद्ध के लिये परिग्रह श्मशान तुल्य है । जैसे गिद्ध को श्मशान प्रिय होता है—वहाँ उसे भोजन मिलता है—उसी

प्रकार क्रोध का स्थान परिग्रह है। जहाँ परिग्रह है, वहाँ क्रोध भी अवश्य है। अथवा क्रोध वहीं रहता है, जहाँ परिग्रह है। परिग्रह, दुर्व्यसन रूपी साँप के लिए बाँबी के समान है। जहाँ परिग्रह है, वहाँ सभी प्रकार के दुर्व्यसन हैं। द्वेष रूपी डाकू के लिए परिग्रह सन्ध्या के समान है। जैसे सन्ध्या होने पर चोर डाकुओं का जोर चलता है, उसी प्रकार परिग्रह होने पर द्वेष का भी जोर चलता है। द्वेष वहीं रहता है, जहाँ परिग्रह है। सुकृत रूपी वन के लिए परिग्रह अग्नि के समान है। जैसे आग जंगल को जला देती है, उसी प्रकार परिग्रह, सुकृत को नष्ट कर देता है। जिस प्रकार बादलों का दुश्मन पवन है, उसी प्रकार मृदुता का दुश्मन परिग्रह है। जैसे हवा होने पर बादल नहीं ठहर सकते, उसी प्रकार जहाँ परिग्रह है वहाँ मृदुता नहीं रह सकती। न्याय को तो परिग्रह उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस तरह कमल-वन को पाला नष्ट कर देता है तात्पर्य यह, कि परिग्रह, कलह क्रोध दुर्व्यसन तथा द्वेष का पोषक और सुकृत मृदुता तथा न्याय का नाशक है।

परिग्रह द्वारा होने वाली हानि का, यह स्थूल रूप बताया गया है। परिग्रह, समस्त दुःखों का कारण है। यह स्वयं को भी दुःख में डालता है और दूसरों को भी। परिग्रह से व्यक्तित्व की भी हानि होती है, समाज की भी। यह आध्यात्मिक हानि का भी कारण है और शारीरिक हानि का भी। इसके द्वारा क्या क्या हानि होती है, यह संक्षेप में बताया जाता है।

इच्छा मूर्छा रूप ममत्व से संग्रह बुद्धि का जन्म होता है। इच्छा मूर्छा होने पर, किसी पदार्थ की ओर से सन्तोष नहीं होता। चाहे जितनी सम्पत्ति हो, चाहे जैसा राज्य हो और चाहे जितनी स्त्रियाँ हों, फिर भी यही इच्छा रहती है, कि मैं और संग्रह करूँ। इस प्रकार की संग्रह बुद्धि ने ही संसार में दुःख फैला रखा है। संसार में जितने भी दुःखी हैं, वे सब संग्रह बुद्धि के प्रताप से ही। वैज्ञानिकों का कथन है, कि जीवन के लिए आवश्यक समस्त पदार्थ प्रकृति इस परिमाण में उत्पन्न करती है, कि जिससे सबकी आवश्यकता-पूर्ति हो सके। ऐसा होते हुए भी, संसार में नङ्गे भूखे लोग दिखाई देने का कारण लोगों की बढ़ी हुई संग्रह बुद्धि ही है। कुछ लोग अपने पास आवश्यकता से अधिक पदार्थ संग्रह कर रखते हैं, और दूसरे लोगों को उन पदार्थों के उपयोग से वञ्चित रखते हैं। इसी कारण लोगों को नंगा भूखा रहना पड़ता है। एक ओर तो कुछ लोग अपने यहाँ अत्यधिक अन्न जमा रखते हैं, जो सड़ जाता है, और दूसरी ओर कुछ लोग अन्न के बिना हाहाकार करते रहते हैं। एक ओर पेटियों में भरे हुए वस्त्र सड़ रहे हैं, उन्हें कीड़े खा रहे हैं, और दूसरी ओर लोग जाड़े से मर रहे हैं। एक ओर कुछ लोग बड़े-बड़े मकानों में ताले डाले रखते हैं, और दूसरी ओर कुछ लोगों के पास वर्षा शीत तथा ताप से बचने तक को स्थान नहीं है। एक ओर कुछ लोगों के पास इतनी ज्यादा भूमि है, कि जिसमें कृषि करना उनके लिए बहुत ही कठिन है, और दूसरी ओर कुछ लोगों को जमीन का इतना टुकड़ा भी नहीं मिलता,

जिसको जोत-बो कर वे अपना पेट पाल सकें। कुछ लोगों के पास रुपये पैसे का इतना अधिक संग्रह है, कि जिसे जमीन में गाड़ रखा गया है, या उन्हें जिसकी आवश्यकता ही नहीं है, और दूसरी ओर कुछ लोग रत्ती-रत्ती सोना चाँदी या पैसे पैसे के लिए तरसते हैं। इस प्रकार संसार में जो वैषम्य दिखाई दे रहा है, वह संग्रह बुद्धि के कारण ही।

जिसकी आवश्यकता नहीं है, उसको अपने पास संग्रह रखने और उसके अभाव में दूसरों को कष्ट पाने देने से ही बोल्शेविज्म का जन्म हुआ है। इस प्रकार का वैषम्य रूस में बहुत ज्यादा फैल गया था। अन्त में पीड़ित लोगों ने क्रान्ति कर दी, जिससे वहाँ के उन लोगों को बहुत कष्ट भोगना पड़ा, जिन्होंने अपने पास आवश्यकता से अधिक पदार्थों का संग्रह कर रखा था।

लोग, पदार्थों का संग्रह इच्छा मूर्छा के वश होकर तो करते ही हैं, लेकिन उनमें प्रधानतः बिना श्रम किये ही सांसारिक सुख भोगने और इस प्रकार स्वयं को बड़ा सिद्ध करने, तथा इच्छा मूर्छा के कारण उत्पन्न अभिमान का पोषण करने की भावना भी रहती है। इस भावना से प्रेरित होकर वे, संसार के अधिक से अधिक पदार्थों पर अपना आधिपत्य करने का प्रयत्न करते हैं और जिन लोगों को उन पदार्थों की आवश्यकता है—उन पदार्थों के बिना जिन्हें कष्ट है—उन लोगों से बदला लेकर फिर उन्हें वे पदार्थ देते हैं। भूमिकर और सूद, अथवा साम्राज्यवाद और पूँजीवाद इसी भावना का परिणाम है।

लोगों में, उसी पदार्थ को संग्रह करने, उसी पदार्थ को अधिक मात्रा में अपने अधिकार में करने—की भावना रहती है, जिसके द्वारा अन्य समस्त पदार्थ सरलता से प्राप्त हो सकें। आज कल ऐसा पदार्थ, स्वर्ण-मुद्रा या रजत-मुद्रा माना जाता है। जिस समय मुद्रा का प्रचलन नहीं था, उस समय के लोगों में—आज के लोगों की तरह की—संग्रह बुद्धि भी नहीं होती थी। न उस समय संसार में आज का-सा वैषम्य आज की-सी बेकारी और आज का-सा दुःख ही होता था। जब विनियम मुद्रा के अधीन नहीं था, तब अन्य वस्तुओं का ही परस्पर विनिमय होता था। उदाहरण के लिए उस समय किसी को वस्त्र की आवश्यकता हुई और उसके यहाँ अन्न है, तो वह अन्न देकर वस्त्र ले आता था। किसी के यहाँ नमक है और उसे घी की आवश्यकता है, तो वह नमक देकर घी ले आता था। इस प्रकार, वस्तु से वस्तु का विनिमय होता था। मुद्रा से वस्तु का विनिमय होना तो दूर रहा, किसी समय मुद्रा का प्रचलन ही न था। ऐसे समय में, यदि कोई पदार्थों का संग्रह रखता भी तो कहाँ तक ? अन्न वस्त्र या ऐसे ही दूसरे पदार्थ, किसी निर्धारित समय तक ही रह सकते हैं। अधिक समय होने पर बिगड़ जावेंगे। इसलिए लोग ऐसे पदार्थों को अधिक दिनों तक नहीं रख सकते थे। लेकिन जब से मुद्रा का प्रचलन हुआ है, तब से संग्रह की कोई सीमा ही नहीं रही। विनिमय मुद्रा के अधीन रहा, और मुद्रा ऐसी धातु से बनी है, जो सैकड़ों हजारों वर्ष तक भी न सड़ती है न घुलती

है। इसलिए लोग मुद्राओं का संग्रह अधिक रखते हैं, जिससे पदार्थों का विनिमय रुक जाता है और लोगों को कष्ट का सामना करना पड़ता है। जब कृषि आदि द्वारा उत्पन्न पदार्थों का परस्पर विनिमय होता था, तब लोग अधिक संग्रह भी नहीं रखते थे, और पदार्थ खराब हो जावेंगे, यह समझ कर उदारता से भी काम लेते थे। परन्तु जब से विनिमय स्वर्ण रजत आदि धातु के अधीन हुआ है, तब से संग्रह की भी सीमा नहीं रही और उदारता का भी आधिक्य नहीं रहा। आज की विनिमय-पद्धति के लिए कहा तो यह जाता है, कि मुद्रा (सिक्के) से विनिमय में सुविधा हो गई है, परन्तु विचार करने पर मालूम होगा, कि कृषि और गोपालन द्वारा उत्पन्न पदार्थों का विनिमय खनिज पदार्थों के अधीन हो जाने से, संसार महान् दुःखी हो गया है। जब विनिमय मुद्रा के अधीन नहीं था, तब कृषक लोग भूमिकर में उसी वस्तु का कोई भाग देते थे, जो उन्हें कृषि द्वारा प्राप्त होती थी। ऐसा कर (महसूल) चक्रवर्ती तो उत्पन्न का बीसमान्श लेते थे, वासुदेव दशमान्श और साधारण राजा षटमान्श लेते थे। इससे अधिक कर नहीं लिया जाता था। लेकिन आजकल कृषि से तो अन्न या दूसरे पदार्थ उत्पन्न होते हैं, और भूमिकर मुद्रा के रूप में लिया जाता है। इससे कृषकों को अन्नादि सस्ते भाव में भी बेच देना पड़ता है। इसके सिवा, कृषि में कुछ उत्पन्न हो या न हो, अथवा कम उत्पन्न हो, फिर भी भूमि कर (लगान) तो प्राय बराबर ही देना होता है। इस प्रकार जब से सिक्के का निर्माण और प्रचलन हुआ है,

जनता अधिक दुःखी हुई है। सिक्के के कारण व्यापारी भी थोड़ी ही देर में तो धनवान बन जाता है, और थोड़ी ही देर में दिवाला निकाल देता है। यह सिक्के का ही प्रताप है। इस प्रकार सिक्के के निर्माण और उसकी वृद्धि ने आपत्तियों की भी वृद्धि की है। इसीलिए किसी एक बादशाह ने अपने राज्य में भारी-भारी (वजनदार) सिक्का चलाया था। उसका कहना था, कि सिक्का जितना भी कम हो उतना ही अच्छा है।

सांसारिक पदार्थों से, आत्मा को कभी भी सुख नहीं मिलता क्योंकि सांसारिक पदार्थों में सुख है ही नहीं। इसलिए उनसे चाहे जितना ममत्व किया जावे—उनको चाहे जितना संग्रह किया जावे—उनसे सदा दुःख ही होता है। संसार के प्राप्त पदार्थ भी दुःख देते हैं और जो प्राप्त नहीं हैं, वे भी दुःख देते हैं। जो प्राप्त हैं, उन्हें प्राप्त करने में भी दुःख उठाना पड़ा है, उनके प्राप्त हो जाने पर भी दुःख ही है और उनके जाने पर भी दुःख ही होता है। जिसके पास जितने अधिक पदार्थ हैं, उसको उतनी ही अधिक चिन्ता है, उतना ही भय है और उतनी ही अधिक अशान्ति है। उदाहरण के लिए एक आदमी के पास कुछ ही रुपये हैं और दूसरे के पास बहुत रुपये हैं। जिसके पास कुछ ही रुपये हैं उसे भी चिन्ता और भय तो रहेगा, परन्तु जिसके पास अधिक रुपये हैं, उसे चिन्ता भी अधिक रहेगी और भय भी अधिक रहेगा। उसको उस धन की रक्षा के लिए, मकान तिजोरी ताले और

पहरेदार भी रखने पड़ेंगे। यह सब होने पर भी, चिन्ता तो बनी ही रहेगी। यह भय सदा ही रहेगा, कि कोई मेरा धन न ले जावे! रात को सुख से नींद भी न आवेगी। और नौकर चाकर स्त्री पुत्र पर सन्देह भी रहेगा, तथा उनकी ओर का भय भी रहेगा। इसी प्रकार, संसार की जितनी भी आपत्तियाँ हैं, सब परिग्रह के कारण ही हैं। चोर डाकू और आग पानी आदि का भय, परिग्रह को ही होता है। राजकोप आदि आपत्तियाँ भी परिग्रही पर ही आती हैं। किसी कवि ने कहा ही है—

> संन्यस्तसर्वसंगेभ्यो गुरुभ्योऽप्यतिशंक्यते।
> धनिभिर्धनरक्षार्थं रात्रावपि न सुप्यते ॥१॥
> सुत स्वजन भूपाल दुष्ट चौरारिविड्वरात।
> बन्धु मित्र कलत्रेभ्यो धनिभिः शंक्यते भृशं ॥२॥
> स्वजातीयैरपि प्राणी सद्योऽभिद्रूयते धनी।
> यथात्र सामिषः पक्षी पक्षिभिर्बद्ध मण्डलैः ॥३॥

अर्थात्—धनवान (परिग्रही) पुरुष, धन की रक्षा के लिए रात को सोता भी नहीं है, और पुत्र स्वजन राजा दुष्ट चोर वैरी बन्धु स्त्री मित्र अथवा परचक्र आदि से, यहाँ तक कि जो समस्त परिग्रह के त्यागी हैं उन गुरु से भी शंकित ही रहता है। उसको सभी की ओर से सन्देह रहता है। क्योंकि धनवान यानी परिग्रही अपनी ही जाति के मनुष्यों द्वारा उसी प्रकार दुःखित भी किया

जाता है, जिस प्रकार मांस भक्षी पक्षियों द्वारा वह पक्षी दुःखित किया जाता है, जिसके पास मांस का टुकड़ा है।

परिग्रह, प्राप्त होने से पहले भी दुःख देता है, प्राप्त होकर भी दुःख देता है, और छूट कर भी दुःख देता है। हाँ यह अन्तर अवश्य है, कि बड़े परिग्रह के साथ बड़ा दुःख लगा हुआ है और छोटे के साथ छोटा दुःख है, लेकिन परिग्रह के साथ दुःख अवश्य है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति को फूलों की माला की इच्छा हुई और दूसरे व्यक्ति को मोतियों की माला की इच्छा हुई। फूल की माला थोड़े ही कष्ट से प्राप्त भी हो जावेगी, उसकी रक्षा की चिन्ता भी थोड़ी ही करनी पड़ेगी, उसके जाने का भय भी थोड़ा ही रहेगा और उसके जाने या नष्ट होने पर दुःख भी थोड़ा ही होगा। परन्तु मोती की माला अधिक कष्ट से भी प्राप्त होगी, उसकी रक्षा की चिन्ता भी अधिक करनी पड़ेगी, उसके जाने का भय भी अधिक रहेगा और यदि उसे चोर ले जावे, कोई छीन ले, या यह खो जावे, तो दुःख भी बहुत होगा। इस प्रकार थोड़े दुःख और अधिक दुःख का अन्तर तो अवश्य है, लेकिन परिग्रह के साथ दुःख अवश्य लगा हुआ है। इसीलिए किसी कवि ने कहा है—

> अर्थाना मर्जने दुःखं मर्जितानाञ्च रक्षणे ।
> आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःख भाजनम् ॥

अर्थात्—परिग्रह के उपार्जन में दुःख है, और उपार्जित के रक्षण में दुःख भी है, परिग्रह के आने में भी दुःख है और जाने में भी दुःख है; इसलिए दुःख के पात्र परिग्रह को धिक्कार।

एक और कवि भी कहता है—

> दुःखमेव धनव्याल विषविध्वस्तचेतसां।
> अर्जने रक्षणे नाशे पुंसां तस्य परिक्षये ॥

अर्थात्—धन रूपी सर्प के विष से जिनका चित्त खराब हो गया है, उन लोगों को सदा दुःख ही होता है। उन्हें धनोपार्जन में भी दुःख होता है, रक्षा करने में भी दुःख होता है और धन के नाश अथवा व्यय में भी होता है।

पदार्थों के पाने से पहले आत्मा को जो शान्ति और स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है, पदार्थ मिलने पर वह चली जाती है, तथा बन्धन में भी पड़ जाना होता है। उदाहरण के लिए किसी पैदल जाते हुए को घोड़ा मिल गया। घोड़ा पाकर वह आदमी कुछ देर के लिए ऐसा चाहे समझे, कि मुझको शान्ति मिली है और मैं स्वतन्त्र हुआ हूँ, परन्तु वास्तव में घोड़ा पाकर वह दुःखी तथा परतन्त्र हुआ है। अब उसे घोड़े की चिन्ता ने और आ घेरा। वह पैदल जहाँ और जब जा सकता था, घोड़ा लिए हुए वहाँ और उस समय नहीं जा सकता। इसी प्रकार संसार के अन्य समस्त पदार्थों के लिए भी समझ लेना चाहिए। संसार के समस्त पदार्थ,

स्वतन्त्रता का हरण करनेवाले, परतन्त्र बनानेवाले, तथा अशान्ति उत्पन्न करनेवाले हैं।

परिग्रही में, दूसरे के प्रति सदा ही ईर्षा का भाव बना रहता है। वह यही सोचता रहता है, कि अमुक आदमी गिर जावे और मैं उससे बड़ा हो जाऊँ, यह व्यक्ति मेरी समानता का न हो जावे, उसको अमुक वस्तु क्यों मिल गई, आदि। इस प्रकार वह दूसरों का अहित ही चाहता है। वह किसी अप्राप्त पदार्थ को पाकर उसमें भी तभी तक सुख मानता है, जब तक उसे वैसा पदार्थ दूसरे के पास नहीं दिख पड़ता। दूसरे के पास वैसा पदार्थ देख कर, उसके हृदय में ईर्षा होती है और उसे स्वयं के पास के पदार्थ में सुख नहीं जान पड़ता। वह सोचता है, कि इसमें क्या है! ऐसा तो उस अमुक के पास भी है।

परिग्रह, निर्दयता भी लाता है। हृदय को कठोर बनाता है। जो जितना परिग्रही है, वह उतना ही निर्दय और कठोर-हृदय है। यदि उसमें निर्दयता और कठोरता न हो, तो वह—लोगों को दुःखी देख कर भी—अपने पास पदार्थ संग्रह नहीं रख सकता। इसी प्रकार परिग्रही व्यक्ति अपने किंचित् कष्ट को तो महान् दुःख समझता है, लेकिन दूसरे के महान् दुःख की उसे कुछ भी पर्वा नहीं होती। दूसरा कोई दुःखी है तो रहे, परिग्रही तो यही चाहता है, कि मेरे काम में कोई बाधा न आवे। मेरे लिए दूसरे

को कैसा कष्ट होता है, मेरे व्यवहार से दूसरे को कैसी व्यथा होती है, इन बातों की ओर उसका ध्यान भी नहीं जाता। वह तो यही समझता है, कि कष्ट सह कर मुझे सुख देने के लिए ही दूसरे लोग बने हैं, और मैं दूसरों को कष्ट देकर सुख भोगने के लिए ही उत्पन्न हुआ हूँ। ऐसा व्यक्ति, दीन दुखियों की सहायता के नाम पर कुछ खर्च भी कर देता हो, लेकिन उसका यह कार्य दया या सहृदयता की प्रेरणा से ही हुआ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह प्रायः लोगों को दिखाने, यशस्वी बनने और स्वय के प्रति जनता को आकर्षित करके अपनी गणना दानियों में कराने के लिए ही, संचित या प्राप्त परिग्रह का एक तुच्छ अंश दे देता है। वस्तुतः उसमें दया और सहृदयता हो ही नहीं सकती। यदि उसमें दया और सहृदयता हो, तो वह परिग्रह के लिए किसी को किंचित् भी कष्ट नहीं दे सकता, न अपने पास अधिक संग्रह रख उन पदार्थों के बिना दूसरों को कष्ट ही पाने दे सकता है।

परिग्रही में द्रोह की प्रधानता रहती है, और जहाँ द्रोह है, वहाँ प्रेम का अभाव स्वाभाविक ही है। इस प्रकार परिग्रह, प्रेम का नाशक है। यह बात ऊपर के वर्णन से और भी स्पष्ट है।

सांसारिक पदार्थों का संग्रह रखनेवाले—उन से ममत्व करनेवाला—सांसारिक पदार्थों को ही महत्व देता है, आत्मा और गुणों की तो उपेक्षा या अवहेलना ही करता है। वह सम्मान भी

उसीका करता है, जिसके अधिकार में सांसारिक पदार्थ अधिक हैं। इसके विरुद्ध जिसके पास सांसारिक पदार्थ का वैसा आधिक्य नहीं है, उसका आदर करना तो दूर रहा, उसकी ओर देखना भी पसन्द नहीं करता, न उसके सुख दुःख की ही अपेक्षा करता है। फिर यदि वह गुणी हो, अथवा दुःखी हो। उसमें गुणी के प्रति प्रमोद भावना और दुःखी के प्रति करुणा भावना नहीं होती॥

परिग्रह के लिए आत्मा की भी अवहेलना की जाती है, और उससे भी द्रोह किया जाता है। आत्मा को बड़ा नहीं समझा जाता, किन्तु परिग्रह को ही बड़ा समझा जाता है और आत्मा का आदर नहीं किया जाता, किन्तु परिग्रह का आदर किया जाता है। जहाँ परिग्रह है, वहाँ आलस्य अकर्मण्यता भी है। दूसरे के श्रम का लाभ लूटने और स्वय का जीवन आलस्य एव विलास में बिताने की ही भावना रहती है, तथा इसी का प्रयत्न किया जाता है।

परिग्रही व्यक्ति स्वय को ही सब से अधिक गुणवान है। फिर चाहे उसमें दुर्गुण ही दुर्गुण क्यों न हों। बल्कि एक कवि के कथनानुसार तो परिग्रही में जरा भी गुण नहीं होता। वह कवि कहता है—

नाणवोऽपि गुणा लोके दोषा शैलेन्द्र सन्निभाः।
भवन्त्यत्र न सन्देहः संगमासाद्य देहिनाम्॥

अर्थात्—परिग्रही में निस्सन्देह ही जरा भी गुण नहीं होता, और दोष सुमेरु की तरह के बड़े २ होते हैं।

इसके अनुसार परिग्रही में दोष ही दोष होते हैं; गुण जरा भी नहीं होता, फिर भी वह समझता यही है, कि जो कुछ हूँ मैं ही हूँ। समस्त गुण मेरे ही में हैं। ऐसे लोगों का व्यवहार देख कर ही किसी कवि ने कहा है—

यस्यास्ति वित्तं सनरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः कांचन माश्रयन्ति।

अर्थात्—जिसके पास धन है, वह आदमी कुलवान न होने पर भी कुलीन माना जाता है, बुद्धिहीन होने पर भी बुद्धिमान माना जाता है, शास्त्रज्ञ न होने पर भी शास्त्रज्ञ माना जाता है, गुणवान न होने पर भी गुणवान माना जाता है, वक्ता न होने पर भी वक्ता माना जाता है और दर्शनीय न होने पर भी दर्शनीय समझा जाता है। इससे सिद्ध होता है, कि सारे गुण धन में ही हैं।

परिग्रह में अभिमान भी बहुत होता। वह, स्वयं को बड़ा सिद्ध करने—स्वय का अधिकार जताने—के लिए, दूसरे का अपमान करने में भी संकोच नहीं करता।

परिग्रही व्यक्ति से, प्रायः धर्म कार्य भी नहीं हो सकते। जो जितना अधिक परिग्रही है, वह धर्म से उतना ही अधिक दूर है। वह लोगों को दिखाने, स्वयं को धार्मिक सिद्ध करने आदि उद्देश्य से चाहे धर्म कार्य करता हो और उनमें भाग भी लेता हो, परन्तु वस्तुतः उनमें पूर्ण धार्मिकता नहीं हो सकती। वह प्रायः समस्त धर्मकार्य, सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति या उनकी रक्षा की कामना से ही करता है, निष्काम होकर नहीं करता। पहले तो ऐसा व्यक्ति, स्थिर चित्त से धर्माराधन या ईश्वर-भजन कर ही नहीं सकता। उसका चित्त, सदा अस्थिर चिन्ता एवं भयग्रस्त रहता है, इस कारण उससे धर्माराधन या ईश्वर-भजन होना कठिन है। इस पर भी यदि वह ऐसा करता है, तो प्राप्त पदार्थ की कुशलक्षेम, अथवा अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति के लिए ही। और यदि कभी उसकी कामना के विपरित कार्य हुआ, तो उस दशा में वह धर्माराधन या ईश्वर-भजन करना त्याग ही नहीं देता है, किन्तु धर्म और ईश्वर पर अविश्वास भी करने लगता है। उसका सिद्धान्त क्या होता है, इसके लिए भर्तृहरि कहते हैं—

जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छता-
च्छीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वह्निना।
शौर्ये वैरिणी वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलं
येनैकेन विना गुणस्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे॥

अर्थात्—चाहे जाति रसातल को चली जावे, समस्त गुण रसातल से भी नीचे चले जावें, शील पहाड़ से गिर कर नष्ट हो जावे, और वैरिन शूरता पर शीघ्र ही वज्र आ पड़े तो कोई हर्ज नहीं, लेकिन हमारा धन नष्ट न हो। हमें तो केवल धन चाहिये। क्योंकि, धन के बिना मनुष्य के सारे ही गुण तिनके के समान व्यर्थ हैं।

परिग्रह के लिए, धर्म और ईश्वर के प्रति विद्रोह भी किया जाता है, और धर्म के स्थान पर अनीश्वरवाद की स्थापना की जाती है। परिग्रह के लिए ही छल कपट और अन्याय अत्याचार को धर्म का रूप दिया जाता है। कुगुरु और कुदेव को परिग्रह के लिए ही माना जाता है। परिग्रह के लिए ही धर्म की मर्यादा उल्लंघन की जाती है और ईश्वर के अस्तित्व से इनकार किया जाता है। धर्म और ईश्वर विरोधी समस्त कार्य, परिग्रह के कारण ही होते हैं।

परिग्रह के लिए ही दुर्व्यसनों का सेवन किया-कराया जाता है। मांस भक्षण मदिरापान जुआ निन्दा चुगली आदि सब दुर्व्यसन परिग्रह के कारण ही सेवन किये जाते हैं, या कराये जाते हैं।

छल कपट और अन्याय अत्याचार भी परिग्रह के लिए ही होता है। परिग्रह के लिए ही विश्वासघात का भयंकर पाप किया जाता है और परिग्रह के लिए ही न्यायाधीश कहलानेवालों द्वारा अन्याय किया जाता है।

परिग्रह के लिए, प्रकृति से भी विरोध किया जाता है। उसका सौन्दर्य नष्ट किया जाता है। जनता को प्रकृति दत्त लाभों से वंचित रखा जाता है। जंगल काट डाले जाते हैं, नदियों का पानी रोक दिया जाता है या बांट दिया जाता है, तथा भूमि और पहाड़ों को खोद डाला जाता है। इस प्रकार प्राकृतिक सौन्दर्य और जो मनुष्य के लिए आवश्यक है वह प्राकृतिक सुविधा को नष्ट करदी जाती है, और उसके स्थान पर कृत्रिमता का पोषण किया जाता है।

यह नियम है, कि जो जिसका ध्यान करता है, वह वैसा ही बन जाता है। आत्मा चैतन्य है, और संसार के समस्त पदार्थ जड़ हैं। जब चैतन्य आत्मा जड़ पदार्थों का ही ध्यान करता रहेगा, तब उसमें भी जड़ता आना सम्भव है। इसके सिवा, जड़ दृश्य पदार्थों का ध्यान करने से आत्मा दृष्टा को यानी स्वयं को भूल जाता है। यह विचार भी नहीं करता, कि मैं दृष्टा, दृश्य में कैसे भूल रहा हूँ।

अज्ञान में पड़ा हुआ आत्मा, सांसारिक पदार्थों से ममत्व करके उनका संग्रह तो करता है, लेकिन आत्मा को सांसारिक पदार्थों से ममत्व करने और उनका संग्रह करने का अधिकार है या नहीं, यह एक विचारणीय बात है। सांसारिक पदार्थ, आत्मा के तद्रूप भी नहीं हैं, वे आत्मा का साथ भी छोड़ देते हैं—

आत्मा के साथ या पास रहते भी नहीं हैं—फिर आत्मा किसी वस्तु को अधिकार पूर्वक अपनी कैसे कह सकता है, और उनका संग्रह क्यों करता है। वस्तुतः आत्मा का सांसारिक पदार्थों पर कोई अधिकार नहीं है। फिर भी अज्ञान के कारण आत्मा उनको संग्रह करता है, उनसे ममत्व रखता है, और इस प्रकार स्वयं की हानि ही करता है।

परिग्रह, पाप-बन्ध का कारण है। यह अन्तिम और प्रधान आस्रवद्वार है। यह अन्तिम आस्रवद्वार ही, प्रथम के चार आश्रवद्वारों का रक्षक एवं पोषक है। प्रथम के चार आस्रव की उत्पत्ति, इसी से है। यह, समस्त पापों का कारण है। भगवती सूत्र के दूसरे शतक में गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा है, कि इच्छा मूर्छा और वृद्धि (अर्थात् परिग्रह) से, क्रोध मान माया लोभ का अविनाभावी सम्बन्ध है। जहां इच्छा मूर्छा है, वहाँ क्रोध मान माया और लोभ भी हैं। क्रोध मान माया लोभ, पापानुबन्ध चौकड़ी है। जहां क्रोध मान माया लोभ हैं, वहां सभी पाप है, और जहाँ परिग्रह है, वहां क्रोध मान माया लोभ है। इस प्रकार परिग्रह, समस्त पापों का केन्द्र है। सब पाप परिग्रह से ही उत्पन्न होते है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में भी कहा है, कि परिग्रह के लिए लोग हिंसा करते हैं, झूट बोलते हैं, अच्छी वस्तु में बुरी वस्तु मिलाते हैं, परदारगमन तथा परदारहरण

करते है, क्षुधा तृषा आदि कष्ट स्वयं भी सहते हैं और दूसरे को भी ऐसे कष्ट में डालते हैं, कलह करते हैं, दूसरे का बुरा चाहते हैं, दूसरे के लिए अपशब्द कहते हैं, दूसरे का अपमान करते हैं तथा स्वय भी अपमानित होते हैं, सदैव चिन्तित रहते हैं, और बहुतों का हृदय दुखाते हैं। क्रोध मान माया लोभ का उत्पादक परिग्रह ही है।

इस प्रकार शास्त्रकारों ने समस्त पापों का कारण परिग्रह को ही बताया है। अनुभव से भी यह स्पष्ट है, कि संसार में जितने भी पाप है, वे सब परिग्रह के ही कारण हैं और परिग्रह के लिए ही किये जाते हैं। ऐसा कोई भी पापकार्य न होगा, जो परिग्रह के कारण न किया गया हो। लोग इच्छा और मूर्छा के वश होकर ही प्रत्येक पाप करते हैं। जिसमें, या जहा इच्छा मूर्छा नहीं है, उसमें या वहां किसी भी प्रकार का पाप नहीं है।

ससार में जितनी भी हिंसा होती है, वह परिग्रह के लिए ही। परिग्रह के वास्ते ही लोग हिंसा करते हैं। शब्द रूप रस गन्ध और स्पर्श के साधन राज्य धन और स्त्री के लिए ही युद्ध हुए हैं, और होते हैं। राम और रावण का युद्ध परिग्रह के लिए ही हुआ था। परिग्रह के लिए ही मणिरथ ने अपने भाई युगबाहु को मार डाला था*। परिग्रह के लिए ही औरंगजेब ने अपने भाइयों

* यहां स्त्री की इच्छा भी परिग्रह से ही मानी गई।

की हत्या की थी। कोणिक और चेड़ा का शास्त्र प्रसिद्ध युद्ध भी परिग्रह के लिए ही हुआ था। इसी प्रकार और भी सैकड़ों हजारों उदाहरण ऐसे हैं, जिनसे यह सिद्ध है, कि परिग्रह के लिए ही मनुष्य मनुष्य की हत्या करता है और अपने पुत्र पिता भाई माता मामा स्त्री पति आदि को मृत्यु के हवाले कर देता है। अभी कुछ ही वर्ष पूर्व यूरोप में जो युद्ध हुआ था, और जिसमें लाखों करोड़ों मनुष्य मौत के घाट उतरे थे, वह भी परिग्रह के लिए ही हुआ था। मनुष्यों की हत्या करने में सैनिकों को किसी प्रकार का सकोच न हो, इसी विचार से राजालोग सैनिकों को वास्तविक धर्म-शिक्षा से वंचित रखते हैं और यह शिक्षा देते दिलाते हैं, कि युद्ध करके मनुष्यों को मारना ही धर्म है। यह सब परिग्रह के लिए ही किया जाता है। परिग्रह के लिए ही सैनिक लोग, राजाओं की—मनुष्यों को मारने ऐसी—वीभत्स आज्ञा का पालन करना अपना पवित्र कर्तव्य समझते हैं। परिग्रह के लिए ही युद्ध ऐसे महान् पाप को भी धर्म का रूप दिया जाता है।

यह तो उस हिंसा की बात हुई, जिसका करना 'वीरता' माना जाता है, जो समाज में घृणा की दृष्टि से नहीं देखी जाती, और समाज भी जिसकी निन्दा नहीं करता किन्तु जिस हिंसा के करने वाले को 'वीर' उपाधि से विभूषित करता है। अब उस हिंसा की बात करते हैं, जो राज्य द्वारा अपराध मानी जाती है और

समाज में भी निन्दा समझी जाती है। चोर डाकू पारदारिक आदि लोग भी, परिग्रह के लिये ही जन-हिंसा करते हैं। परिग्रह के लिये ही मनुष्य, अपनी ही तरह के मनुष्य को बात की बात में कत्ल कर डालता है, किसी भी प्रकार का संकोच नहीं करता। अधिक कहाँ तक कहा जावे, संसार में जिनको स्वजन कहा जाता है, परिग्रह के लिये उनकी भी हत्या कर डाली जाती है और आत्म-हत्या का घोर पाप भी परिग्रह के लिये ही किया जाता है।

परिग्रह के लिये स्वयं के शरीर से भी द्रोह किया जाता है। जो व्यवहार शरीर के लिये असह्य है, जिस व्यवहार से शरीर की क्षति होती है, परिग्रह के लिए शरीर के प्रति भी वही व्यवहार किया जाता है और जिस व्यवहार से शरीर सुखी रहता है, पुष्ट तथा सशक्त रहता है, आयु की वृद्धि होती है, उस व्यवहार से शरीर को वंचित रखा जाता है। जैसे अधिक, गरिष्ठ और प्रकृति-विरुद्ध भोजन, मैथुन, आदि कार्य तथा नशा शरीर के लिए हानि-प्रद है, लेकिन परिग्रह के लिए ऐसे हानिप्रद कार्य भी किये जाते हैं। और अल्प तथा सादा भोजन, सीमितश्रम आदि शरीर के लिए लाभप्रद हैं, फिर भी इनसे शरीर को वंचित रखा जाता है। अर्थात् मिथ्या आहार–विहार द्वारा शरीर के साथ द्रोह किया जाता है, और वह परिग्रह के लिए ही।

शरीर से आगे जन्म देनेवाले माता-पिता, प्रिय माने जाने वाले भाई बहन मित्र सम्बन्धी स्त्री पुत्र आदि परिजन के विषय में विचार करने पर मालूम होगा, कि परिग्रह के लिए इन सब से अथवा इनमें से प्रत्येक के साथ–द्रोह किया जाता है। मनुष्य पर माता-पिता का अनन्त उपकार है, परन्तु परिग्रह के लिए उनका भी अपकार किया जाता है। इस बात को सिद्ध करने के लिए बहुत उदाहरण दिये जा सकते हैं, लेकिन थोड़े ही उदाहरणों से काम चल सकता है, इसलिए कंस कोणिक और औरंगजेब के उदाहरण देना ही पर्याप्त है। कंस ने अपने पिता उग्रसेन को, परिग्रह के लिए ही कारागार में डाल दिया था। कोणिक ने, परिग्रह के लिए ही अपने पिता श्रेणिक को पींजरे में बन्द कर दिया था। और परिग्रह के लिए ही औरंगजेब ने, अपने बूढ़े बाप शाहजहाँ को आगरे के किले में बन्द करके भूखों-प्यासों मारा था। इसी प्रकार अनेक नर पिशाचों ने, परिग्रह के लिये अपनी जन्मदात्री माता की भी हत्या कर डाली है; उसे भी कष्ट दिया है। यूरोप के किसी राजा या सेनापतिने, अपनी माता को भी तलवारके घाट उतार दिया था।

परिग्रह के लिए, माता-पिता द्वारा सन्तान का द्रोह किये जाने के उदाहरण भी बहुत मिलेंगे। परिग्रह के लिए ही पुत्र पुत्री में भेद भाव समझा जाता है और एक को शुभ तथा दूसरे को अशुभ मनाया जाता है। परिग्रह के लिए ही सन्तान को दूसरे के हाथ

बेचा जाता है, और उसके सुख-दुःख की चिन्ता नहीं की जाती। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की माता ने, परिग्रह के लिए ही* अपने पुत्र ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को लाक्ष गृह में जलाने का प्रयत्न किया था।

परिग्रह के लिए भाई से द्रोह करने के उदाहरण तो, सब से ज्यादा हैं। कौरवपाण्डव भाई भाई ही थे, लेकिन परिग्रह के लिए आपस में लड़ मरे। औरंगजेब ने अपने भाई दारा शूजा और मुराद को, परिग्रह के लिए ही मार डाला था। और परिग्रह के लिए ही भरत चक्रवर्ती ने, अपने ९८ भाइयों की स्वाधीनता छीनने का प्रयत्न किया था।

परिग्रह के लिये बहन का भाई द्वारा, और भाई का बहन द्वारा द्रोह किये जाने के उदाहरण भी बहुत हैं। इसी-प्रकार मित्र-द्रोह भी परिग्रह के लिये ही होता है। परिग्रह के लिये ही पति द्वारा पत्नी का, और पत्नी द्वारा पति का द्रोह किया जाता है। सूरिकान्ता रानी ने, अपने पति परदेशी राजा की हत्या परिग्रह के लिये ही की थी। आज भी ऐसे बहुत उदाहरण देखने-सुनने में आते हैं।

समाज का द्रोह भी परिग्रह के लिये ही किया जाता है। परिग्रह के लिये ही ऐसे काम किये जाते हैं, जिनसे समाज का

*भोगों में मूर्छा परिग्रह ही है।

अहित होता है। परिग्रह के कारण जाति और देश से भी द्रोह किया जाता है। आज तक जितने भी देशद्रोही हुए हैं, उन सब ने परिग्रह के लिये ही देशद्रोह किया था। आज भी जो लोग देश-द्रोह करते हैं, वे परिग्रह के लिये ही। परिग्रह के लिये ही वे कार्य किये जाते हैं, जिनसे देश का अहित होता है।

राजा, प्रजा का रक्षक माना जाता है, लेकिन परिग्रह के लिये वह भी प्रजाद्रोही बन जाता है। परिग्रह के लिये ही वह ऐसे ऐसे नियमोपनियम बनाता है, ऐसे ऐसे कर लगाता है, जो प्रजा को कष्ट में डालते हैं।

तात्पर्य यह, कि संसार में जितनी भी जनहिंसा होती है, वह परिग्रह के लिए ही। इच्छा-मूर्च्छा से प्रभावित व्यक्ति को जनहिंसा करने में, धर्म-अधर्म या पाप-पुण्य का विचार नहीं होता, न यही विचार होता है, कि ये मेरे सम्बन्धी अथवा मित्र हैं, मैं इनकी हिंसा कैसे करूँ।

यह, जन-हिंसा की बात हुई। अब पशु पक्षी आदि की हिंसा पर विचार किया जाता है। पशु-पक्षियों की हिंसा भी परिग्रह के लिए ही होती है। दीन मूक और किसी की कोई हानि न करने वाले पशु पक्षियों को भी, मनुष्य इच्छा-मूर्छा की प्रेरणा से ही मारता है। शिकार द्वारा, कत्ल खानों द्वारा, अथवा अन्य प्रकार

से पशु-पक्षियों की जो हिंसा होती है, वह सब परिग्रह के लिए ही। चर्म रक्त केश दांत चर्बी मांस अथवा अन्य किसी अवयव के लिए ही, पशु या पक्षी को मारा जाता है। यदि इनमें से किसी की चाह न हो, तो मारे जाने वाले पशुपक्षियों को मारने का कोई कारण ही नहीं है। जो कोई भी पशु पक्षियों की हिंसा करता है, वह या तो उस पशु-पक्षी के अगों-पांग दूसरे को वेंच कर बदले में और कुछ लेता है, अथवा स्वयं ही उनको उपयोग में लेता है। दोनों में से किसी भी लिए हो, फिर भी यह तो स्पष्ट है, कि परि-ग्रह के लिए ही पशुओं और पक्षियों की हिंसा की जाती है और परिग्रह के लिए ही दूसरे जीवों की भी हिंसा की जाती है। बन्ध वध आदि हिंसा के अंग रूप पाप भी परिग्रह के लिए ही होते हैं।

इस प्रकार, परिग्रह के लिए ही हिंसा का पाप होता है। छोटे या बड़े, किसी भी जीव की हिंसा ऐसी न निकलेगी, जो परिग्रह के लिए न की गई हो। आरम्भादि द्वारा होनेवाली हिंसा भी परिग्रह के लिए ही होती है, और महारम्भ द्वारा होनेवाली हिंसा तो विशेषतः परिग्रह के लिए होती है। परिग्रह के लिए ही महारम्भ और महापाप किया जाता है। मिलों और कारखानों से जो काम होता है, वह काम इनके बिना भी हो सकता था और उस दशा में अनेकों को रोटी भी मिल सकती थी, परन्तु बढ़ी हुई इच्छा-मूर्छा वाले लोग, मिल और कारखाने स्थापित करके उन

कामों को करते हैं, जिसमें बहुतों को होने वाला काम एक या कुछ व्यक्ति को ही हो। यद्यपि ऐसा करने से जनता में कंगाली फैलती है, सार्वजनिक कला नष्ट होती है और महारम्भ होता है, लेकिन परिग्रह के लिए इस सब बातों की अपेक्षा नहीं की जाती।

अब झूठ के विषय में विचार करते हैं। झूठ का पाप भी परिग्रह के लिए ही किया जाता है। चाहे सूक्ष्म झूठ हो या स्थूल उसका उपयोग परिग्रह के लिए ही होता है। परिग्रह के लिए ही शास्त्रों का पाठ तथा अर्थ बदला जाता है। परिग्रह के लिए ही शास्त्रों में तात्विक परिवर्त्तन किया जाता है। परिग्रह के लिए ही वास्तविकता को छिपा कर कृत्रिमता से काम लिया जाता है। परिग्रह के लिए ही झूठी गवाही दी जाती है, कम तोला नापा जाता है, वस्तु में संमिश्रण किया जाता है और सत्य को दबाया जाता है। परिग्रह के लिए ही अच्छी कन्या को बुरी, बुरी कन्या को अच्छी, अच्छे लड़के को बुरा और बुरे लड़के को अच्छा बताया जाता है, परिग्रह के लिए ही ६० के बदले २५ की और १४ के बदले १८ बरस की अवस्था बताई जाती है। इस प्रकार झूठ सम्बन्धी समस्त पाप भी परिग्रह के लिए ही किया जाता है।

चोरी का पाप भी परिग्रह के लिए ही होता है। ऐसी एक भी चोरी न होगी, जो परिग्रह के लिए न की गई हो। इसी प्रकार मैथुन भी परिग्रह के लिए ही होता है।

इस प्रकार चारों वे पाप, जो परिग्रह से पहले के चार आस्रव द्वार माने जाते हैं, परिग्रह के लिए ही सम्पन्न होते हैं। यदि परिग्रह का पाप न हो, तो ऊपर कहे गये चारों पापभी नहीं हो सकते।

सारांश यह, कि संसार में समस्त पाप-कार्य और संसार के समस्त अनर्थ परिग्रह के लिए ही होते हैं। परिग्रह, सब पापों का मूल और सब अनर्थों की खान है। परिग्रह से होनेवाले, अथवा परिग्रह के लिए होनेवाले पाप और अनर्थ का पूर्णतया वर्णन बहुत ही कठिन है, इसलिए इतना कह कर ही सन्तोष किया जाता है।

[चार]

अपरिग्रह व्रत

आशा नामनदी मनोरथ जला तृष्णा तरंगाकुला
राग ग्राहवती वितर्क विहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्त्त सु दुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुङ्ग चिन्तातटी
तस्याः पारगता विशुद्ध मनसोनंदन्ति योगीश्वराः॥

अर्थात्—आशा, एक नदी के समान है। उसमें इच्छा रूपी जल भरा हुआ है। ममत्व, उस नदी में रहनेवाला मगर है। तर्क-वितर्क, पक्षी हैं। मोह, उसमें भँवर है, और चिन्ता उस नदी का तट है। इस प्रकार की आशा रूपी नदी, धैर्य रूपी वृक्ष को गिर

देती है। इस तरह की आशा नदी को पार करना बहुत ही कठिन है, लेकिन जो विशुद्ध चित्तवाले महात्मा आशा नदी को पार कर जाते हैं, वे बहुत ही आनन्द पाते हैं।

यह मनुष्य-भव बहुत कठिनाई से प्राप्त हुआ है। न मालूम कितने काल तक अन्य गति में भ्रमण करने के पश्चात्, यह मनुष्य शरीर मिला है। मनुष्य शरीर, समस्त साधन सहित है। ऐसा कोई कार्य नहीं जो इस शरीर के होने पर न किया जा सके। इसलिये मनुष्य भव-पाकर आत्मा का ध्येय, ससार के जन्म-मरण से छूटना होना चाहिए। जो आत्मा इस ध्येय को भूला हुआ है उसके लिए कहना चाहिए कि वह स्वयं को ही भूला हुआ है और इस कारण उसे न मालूम कब तक जन्म-मरण करना होगा। क्योंकि मनुष्य भव के सिवा अन्य भव में, जन्म-मरण से छूटने की बात को समझना भी कठिन है। कदाचित समझ भी लिया, तो इस ध्येय तक पहुचने के साधन नहीं होते, इस लिए जन्म-मरण से छूटने में असमर्थ रहता है। केवल मनुष्य शरीर-ही, इस ध्येय पर पहुचाने में समर्थ है। इस लिए प्रत्येक आत्मा का कर्त्तव्य है, कि वह मनुष्य-शरीर को व्यर्थ न जाने दे, किन्तु उसे पाकर जीवनमुक्त होने का प्रयत्न करे।

गत अध्याय में जिसका रूप और जिससे होने वाली हानि का वर्णन किया गया है, वह परिग्रह आत्मा को जीवनमुक्त नहीं

होने देता। परिग्रह, आत्मा पर भार रूप है। आत्मा को मोक्ष की ओर नहीं जाने देता। जन्म-मरण के दुःख से आत्मा का छुटकारा तभी हो सकता है, जब वह परिग्रह को सर्वथा त्याग दे। क्योंकि परिग्रह, बन्ध का कारण है। सूत्र कृतांग के पहले अध्ययन में कहा है—

> चित्तमंतमचित्तं वा परिगिज्झ किसामवि।
> अन्नं वा अणुजाणाइ एवं दुक्खा ण मुच्चई॥

अर्थात्—चाहे सचित परिग्रह हो अथवा अचित परिग्रह हो, जो व्यक्ति किंचित् भी परिग्रह रखता है या दूसरे को परिग्रह रखने की अनुज्ञा देता है, वह व्यक्ति दुःख से कभी भी नहीं छूटता।

इस प्रकार शास्त्रकारों ने, परिग्रह को कर्म-बन्ध का कारण बताया है और जबतक कर्म-बन्ध नहीं रुकता, तब तक आत्मा मोक्ष की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। मोक्ष-प्राप्ति के वास्ते, परिग्रह को सर्वथा त्यागने की आवश्यकता है। परिग्रह को त्यागने के लिए ही भगवान तीर्थंकर ने अपरिग्रह व्रत बताया है।

पूर्व के अध्यायों में परिग्रह का रूप और उससे होने वाली आत्मा की हानि का कुछ वर्णन किया जा चुका है। अब यह

बताते हैं, कि अपरिग्रह व्रत क्या है, उसको स्वीकार करने से क्या लाभ है, और उसका पालन कैसे हो सकता है।

जिस परिग्रह का पिछले अध्यायों में वर्णन किया गया है, उस परिग्रह से निवर्तने के लिए जो व्रत स्वीकार किया जाता है, उसका नाम 'अपरिग्रह व्रत' है। इस व्रत को स्वीकार करने से, इहलौकिक लाभ भी हैं और पारलौकिक लाभ भी। पहले के अध्यायों में यह बताया जा चुका है, कि परिग्रह समस्त पापों का कारण है। परिग्रह, राग-द्वेष का वर्द्धक और मोक्ष-मार्ग का अवरोधक है। इस व्रत को स्वीकार करने पर आत्मा, समस्त-पापों से निवृत हो जाता है। वह, राग-द्वेष-रहित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है और इस प्रकार जन्म-मरण के कष्ट से छूट जाता है। जन्म-मरण का मूल हेतु, राग-द्वेष ही है। अपरिग्रही होने पर राग-द्वेष मिट जाता है, इसलिए फिर जन्म-मरण नहीं करना पड़ता। अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने पर, अनन्तानुबन्धी चौकड़ी, अप्रत्याख्यानी चौकड़ी और प्रत्याख्यानी चौकड़ी का निरोध हो जाता है, इससे जन्म-मरण और नरकादि के दुःख से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। परिग्रह के कारण आत्मा जन्म-मरण के जिस बन्धन में है, परतन्त्रता की जिस जंजीर से जकड़ा हुआ है, अपरिग्रह व्रत स्वीकार कर लेने पर उस बन्धन और परतन्त्रता से भी छूट जाता है। अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने पर ही, पूर्णतया

धर्माराधन हो सकता है और तभी कामना रहित तथा शुद्ध रीति से परमात्मा का भजन भी किया जा सकता है।

सांसारिक पदार्थ, अशान्ति के ही कारण हैं। वे स्वय के लिए भी अशान्ति रूप हैं, और दूसरे के लिए भी। स्वय शान्ति प्राप्त करने के लिए, तथा दूसरों को शान्ति देने के लिए उनका त्याग करना आवश्यक है। इसी के लिए अपरिग्रह व्रत स्वीकार किया जाता है। परिग्रह का विरमण करके अपरिग्रही रहने की जो प्रतिज्ञा की जाती है, उसी का नाम अपरिग्रह व्रत है। शान्ति प्राप्ति के लिए इस व्रत को स्वीकार करना आवश्यक है। सोलहवें तीर्थङ्कर भगवान शान्तिनाथ छः खण्ड पृथ्वी के स्वामी चक्रवर्ती थे, लेकिन उन्हें भी शान्ति तभी प्राप्त हुई, जब उन्होंने उस सब को त्याग कर अपरिग्रह व्रत स्वीकार किया। अर्थात्, छः खण्ड पृथ्वी का स्वामित्व भी शान्ति दायक नहीं हुआ, शान्ति तो उसके त्याग से ही मिली।

परिग्रह से सर्वथा निवर्तने के लिए, पहले अभ्यन्तर परिग्रह से निवर्तने की आवश्यकता है। जब तक अभ्यन्तर परिग्रह है, तब तक बाह्य परिग्रह से निवर्तने का विचार तक नहीं हो सकता।' बल्कि अभ्यन्तर परिग्रह का आधिक्य होने पर मनुष्य, उस किसी वस्तु बात या विचार को परिग्रह रूप मान ही नहीं सकता, जिसकी गणना परिग्रह में है। 'यह परिग्रह है' ऐसा विचार तभी

हो सकता है, जब अभ्यन्तर परिग्रह का जोर कम हुआ होगा। इसलिए सर्वप्रथम अभ्यन्तर परिग्रह से निवर्तने की आवश्यकता है। अभ्यन्तर परिग्रह से आत्मा जितने अंश में निवर्तता जावेगा, उतने ही अंश में बाह्य परिग्रह से भी निवर्तता जावेगा, और जब अभ्यन्तर परिग्रह से बिलकुल निवर्त जावेगा, तब बाह्य परिग्रह भी न रहेगा।

निग्रन्थ-प्रवचन सुनने का लाभ, परिग्रह का त्याग और अपरिग्रह व्रत का स्वीकार ही है। जिसके स्वीकार किये बिना, निग्रन्थ-प्रवचन का पालन नहीं हो सकता और जब तक निग्रन्थ-प्रवचन का पूर्णतया पालन नहीं किया जाता, तबतक जन्म मरण से नहीं छूट सकता। इस दृष्टि से भी, परिग्रह त्याग कर अपरिग्रह व्रत स्वीकार करना आवश्यक है।

शास्त्र का कथन है, कि जब तक इन्द्रिय-भोग के पदार्थ न छूटें, तब तक जन्म-मरण भी नहीं छूट सकता। इन्द्रिय-भोग के पदार्थों के प्रति जब तक किंचित् भी ममत्व है, तब तक जन्म-मरण भी है, और जिन्हें इन्द्रियाँ प्रिय मानती हैं, उन पदार्थों का ममत्व ही परिग्रह है। संसार-चक्र से निकलने की इच्छा रखने वाले के लिए यह आवश्यक है, कि इन्द्रिय द्वारा भोग्य पदार्थ रूप परिग्रह का त्याग करके, अपरिग्रह व्रत स्वीकार करें।

इस प्रकार अपरिग्रह व्रत को स्वीकार तथा उसका पालन करने से, पारलौकिक लाभ जन्म-मरण से छूटना और मोक्ष प्राप्त करना है। अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने पर, जन्म मरण का भय भी छूट जाता है, और किसी प्रकार का कष्ट भी नहीं रहता है।

इस व्रत को स्वीकार करने से, इहलौकिक लाभ भी बहुत हैं। जो इस व्रत को स्वीकार करता है, उसकी ओर से संसार के समस्त प्राणी निर्भय हो जाते हैं और व्रत स्वीकार करने वाला भी सब तरह से निर्भय हो जाता है। फिर उसको किसी भी ओर से, किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। उसको न तो राजभय रहता है, न चोर भय रहता है, न अग्नि रोग आदि किसी अन्य प्रकार का ही भय रहता है। उसके प्रति संसार के समस्त जीव विश्वास करते हैं, और वह भी सबका विश्वास करता है, तथा सब जीवों के प्रति समदृष्टि रहता है, एवं सभी को अपना मित्र मानता है। उसके हृदय में शत्रु और मित्र का भेद नहीं रह जाता। लोगों में वह, आदर पात्र माना जाता है। उसके समीप, किसी प्रकार की चिन्ता तो रहती ही नहीं है।

संसार का ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो कभी न छूटे। छोड़ने की इच्छा न रहने पर भी, संसार के पदार्थ तो छूटते ही हैं। लेकिन यदि संसार के पदार्थों को इच्छा-पूर्वक छोड़ा जावेगा, तो दुःख भी

न होगा, तथा प्रशंसा भी होगी। और इच्छा-पूर्वक न छोड़ने पर, संसार के पदार्थ छूटेंगे तो अवश्य ही, परन्तु उस दशा में हृदय को अत्यन्त खेद होगा, तथा लोगों में निन्दा भी होगी। इस विषय में एक कहानी भी है, जो इस स्थान के लिए उपयुक्त होने से वर्णन की जाती है।

एक जाट की स्त्री, अपने पति से प्रायः सदा ही यह कहा करती थी, कि मैं चली जाऊँगी। जरा भी कोई बात होती, तो वह कहने लगती कि—मैं जाती हूं जाट ने सोचा, कि यह चंचला मेरे यहाँ से किसी दिन अवश्य ही चली जावेगी, लेकिन यदि यह स्वयं मुझको छोड़ जावेगी, तो मेरे हृदय को दुःख भी होगा और लोगों में मेरी निन्दा भी होगी। लोग यही कहेंगे, कि जाट में कोई दोष होगा, इसी से उसकी स्त्री उसे छोड़ कर चली गई। इसलिए ऐसा उपाय करना, कि जिसमें मुझे इसके जाने का दुःख भी न हो और लोगों में मेरी निन्दा भी न हो।

एक दिन पति-पत्नी में फिर कुछ खटपट हुई। उस समय भी जाटिन ने कहा, कि मैं तेरे को छोड़ कर चली जाऊँगी! जाट ने जाटिन से कहा, कि—तू बार-बार जाने का भय दिखाया करती है, यह अच्छा नहीं। तेरे को जाना ही है, तो तू खुशी से जा। मैं तेरे को जाने की स्वीकृति देता हूं। तू मेरी रकम-भाव मुझे सौंप दे, और फिर भले ही चली जा। जाट का यह कथन

सुनकर, जाटिन प्रसन्न हुई। उसने, अपने शरीर के आभूषणादि उतार कर जाट को दे दिये। जाट ने उससे कहा, कि अब तू मजे से जा, लेकिन एक काम तो और कर दे। घर में पानी नहीं है। मैं अभी ही घडा लेकर पानी भरने जाऊँगा, तो लोग मेरे लिए भी न मालूम क्या-क्या कहेंगे और तेरे लिए भी कहेंगे, कि घर में पानी तक नहीं रख गई! इसलिए एक घडा पानी ला दे, और फिर जहाँ जाने की तेरी इच्छा हो वहाँ मजे से चली जा।

जाटिन ने सोचा, कि जब यह एक घड़ा पानी का देने से ही मुझे छुटकारा देता है और मैं इससे सदा के लिए छुटकारा पा जाती हूँ तब इसका कहना मान लेने में क्या हर्ज है। इस प्रकार सोचकर जाटिन, घड़ा लेकर पानी भरने गई। जाटिन के जाने के पश्चात् जाट भी घर से डंडा लेकर निकला और उसी मार्ग पर जा बैठा, जिस मार्ग से जाटिन पानी लेकर आने वाली थी। जाटने, दो चार आदमियों को बुलाकर अपने पास बैठा लिया। जैसे ही सिर पर पानी भरा घड़ा लिए हुई जाटिन जाट के सामने आई, वैसे ही जाट कटु-शब्द कहता हुआ उठ खड़ा हुवा। उसने अपने डण्डे से जाटिन के सिर पर का घड़ा फोड़ कर उससे कहा, कि-कुल्टा मेरे यहाँ से चली जा। तेरे लाये हुए पानी की मुझे आवश्यकता नहीं है। मैं मेरे घर में तेरे को नहीं रहने दे सकता इस लिये तेरी इच्छा हो वहाँ जा।

सिर पर का घड़ा फूट जाने से, जाटिन भींग गई। वह जाट से कहने लगी, कि—दुष्ट मैं तेरे यहाँ रहना ही कब चाहती हूँ? मैं तो तेरी रकम-भाव फेंक कर जाती ही थी, केवल तेरे कहने से पानी भरने गई थी इस प्रकार जाटिन भी चिल्लाई, परन्तु उसके कथन पर किसी ने भी विश्वास नहीं किया। सब लोगोंने यही समझा और सब लोग भी यही कहने लगे, कि जाट ने जाटिन को निकाल दिया।

तात्पर्य यह, कि संसार का कोई पदार्थ ऐसा नहीं है, जो आत्मा का साथ दे सभी पदार्थ एक न दिन अवश्य छूटने वाले हैं। लेकिन यदि उन पदार्थों को स्वयं छोड़ देंगे, तो हृदय को दुखः भी न होगा और लोगों में निन्दा भी न होगी,। किन्तु जैसे जाटिन के विषय में लोग कहने लगे, कि जाट ने जाटिन को त्याग दिया उसी प्रकार सांसारिक पदार्थ त्यागने वाले के विषय में भी लोग यही कहेंगे, कि अमुक ने सांसारिक पदार्थ—धन सम्पद् आदि को त्याग दिया।

सांसारिक पदार्थों को स्वयं त्यागने से, एक लाभ और भी है। भावी सन्तति भी सांसारिक पदार्थों का विश्वास न करेगी, किन्तु उन्हें त्याज्य मानेगी। इस प्रकार सांसारिक पदार्थों को स्वयं ही त्यागने से, भावी सन्तान को भी लाभ होगा।

सांसारिक पदार्थों से आत्मा का कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं है और ये छूटनेवाले हैं, यह जानकर ही धन्ना, शालिभद्र और भृगु पुरोहित आदि ने अपनी विशाल सम्पत्ति त्याग दी थी। पूर्व के अनेक मुनि महात्माओं एवं महापुरुषों ने, ससार के किसी पदार्थ से इसी कारण ममत्व नहीं किया और बड़ी सम्पत्ति, बड़ा परिवार तथा विशाल राज्य भी तृणवत् त्याग दिया। वे जानते थे, कि हम ध्रुव (आत्मा) की उपेक्षा करके अध्रुव (पदार्थ) लेने जावेंगे, तो जो अध्रुव हैं वे तो छूटेंगे ही, साथ ही ध्रुव आत्मा की भी हानि होगी। वे इस बात को समझ चुके थे, कि इन्द्रियों को सुखदायक जान पड़ने वाले सांसारिक पदार्थ, इन्द्रियों की अपेक्षा तुच्छ हैं। इन्द्रियों में जो शक्ति है, वह सांसारिक पदार्थों से बहुत बढ़ कर है। इसलिए इन्द्रियों को सांसारिक पदार्थ के भोगोपभोग में डाल कर इन्द्रियों की शक्ति का दुरुपयोग करना, उसे नष्ट करना अनुचित है। और इन्द्रियों से बढ़ कर, मन है। इसलिए इन्द्रियों के पीछे मन की शक्ति नष्ट करना भी मूर्खता है। जिन पदार्थों में इन्द्रियाँ सुख मानती हैं, उन पदार्थों को चाहना और मन को इन्द्रियानुगामी बनाना, हानिप्रद है। इन्द्रिय और मन से बड़ा, आत्मा है। इसलिए इन्द्रिय और मन को आत्मा के अधीन रख कर, इनके द्वारा वे ही कार्य करने चाहिएँ, जिनसे आत्मा का हित हो। यह जानने के कारण ही उन्होंने ससार के

पदार्थों से ममत्व नहीं किया, किन्तु प्राप्त पदार्थों को त्याग कर अपरिग्रह व्रत स्वीकार किया।

परिग्रह में सुख मानना, भारी अज्ञान है। जो परिग्रह में सुख मानता है वह परिग्रह को कदापि नहीं त्याग सकता। परिग्रह को सर्वथा या आन्शिक वही त्याग सकता है, जो उसे दुःख का कारण जानता है और रानी कमलावती की तरह बन्धन रूप मानता है। भृगु पुरोहित द्वारा त्यक्त धन जब राजा इक्षुकार के यहाँ आ रहा था, तब राजा इक्षुकार की रानी कमलावती ने अपने पति से कहा था, कि आप यह क्या कर रहे हैं! आप, दूसरे द्वारा त्यागे गये धन को अपनाकर, वमन की हुई वस्तु को खाने के समान का कार्य क्यों कर रहे हैं! आप यदि यह कहते हों, कि ऐसा विचारा जावे तो फिर धन कहाँ से आवेगा और यह साज शृंगार तथा ठाठ बाट कैसे निभेगा, तो इसके उत्तर में मैं यही कहती हूँ, कि मैं इस समस्त साज-शृंगार और ठाठ बाट को बन्धन रूप ही मानती हूँ।

नाहं रमे पक्खिणि पंजरेवा संताण छिन्ना चरिस्सामि मोणं।
अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा परिग्गहारंभ नियत्त दोसा॥

अर्थात्—हे महाराजा, जिस प्रकार पींजरे में पक्षी आनन्द नहीं मानता, उसी प्रकार मैं भी इस राज सम्पदा में आनन्द नहीं

मानती। किन्तु जिस प्रकार सोने का बना हो अथवा लोहे का बना हो, पक्षी के लिए पींजरा बन्धन रूप ही है, उस पींजरे से मुक्त होने पर ही पक्षी स्वयं को सुखी मानता है, परन्तु विवश होकर परतन्त्रता का दुःख भोगता है, उसी प्रकार मैं भी इस राज्य वैभव को अपने लिए बन्धन रूप ही समझती हूँ। मैं यह मानती हूँ, कि चाहे महान् सम्पत्ति हो अथवा अल्प संपत्ति हो, दोनों ही बन्धन रूप हैं। बल्कि जिसके पास जितनी अधिक सम्पत्ति है, वह उतने ही अधिक बन्धन में है। इसलिए अब मैं आरम्भ-परिग्रह त्याग कर, विषय कषाय रूप मांस से रहित होकर और स्नेह जाल को तोड़ कर संयम लूँगी, तथा सरल कृत्य करती हुई स्वतन्त्र पक्षी की तरह विचरण करूँगी।

इस प्रकार रानी कमलावती ने, परिग्रह को बन्धन तथा दुःख का कारण माना और परिग्रह को त्याग कर अपने पति सहित संयम स्वीकार कर लिया। रानी कमलावती की ही तरह जो व्यक्ति परिग्रह को बन्धन मानता है, वही परिग्रह को त्याग सकता है। जो परिग्रह को सुख का कारण समझता है, वह उसे कदापि नहीं त्याग सकता।

अब यह देखते हैं, कि अपरिग्रह व्रत का पालन कब हो सकता है। कोई भी व्यक्ति अपरिग्रही तभी बन सकता है, जब वह अपने में से इच्छा को बिल्कुल ही निकाल दे। उसमें किसी

पदार्थ की लालसा रहे ही नहीं। जब तक किसी भी पदार्थ की लालसा है, तब तक कोई भी व्यक्ति अपरिग्रही नहीं हो सकता। जिसमें लालसा है—उसके पास कोई स्थूल पदार्थ न हो तब भी—वह परिग्रही ही है। हृदय में पदार्थों की लालसा बनी हुई है, लेकिन पदार्थों के प्राप्त न होने से जो स्वयं को अपरिग्रही कहता या समझता है, वह अपरिग्रही नहीं है किन्तु परिग्रही ही है। दशवैकालिक सूत्र के दूसरे अध्ययन में कहा है, कि पदार्थ की लालसा तो है, परन्तु पदार्थ के न मिलने से वह त्यागी बना हुआ है और पदार्थ को भोग नहीं सकता है, वह त्यागी नहीं है, किन्तु भोगी ही है, भगवती सूत्र में भी गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा है, कि सेठ और दरिद्री को अव्रत की क्रिया बराबर ही लगती है। सेठ के पास बहुत पदार्थ हैं और दरिद्री के पास कुछ भी नहीं है, फिर भी दोनों को समान रूप से अव्रत क्रिया लगने का कारण यही है, कि दरिद्री के पास पदार्थ तो नहीं है, लेकिन उसमें पदार्थ की लालसा है। इसी कारण दोनों को समान अव्रत की क्रिया लगती है।

मतलब यह, कि अपरिग्रही होने के लिए लालसा मिटाने और सन्तोष करने की आवश्यकता है। लालसा की उत्पत्ति का कारण, इन्द्रियों की काम-भोग में प्रवृत्ति होगी, अथवा ऐसा करना चाहेंगे, तब संसार के पदार्थों की लालसा भी होगी। मन

की चंचलता के कारण ही, इन्द्रियाँ विषयों की ओर दौड़ती है। यदि मन चंचल न हो, किन्तु स्थिर हो और वह इन्द्रियों का साथ न दे, तो इन्द्रियें विषय भोग की ओर न दौड़ें। मन की चंचलता के कारण ही, इन्द्रियें विषय-भोग की ओर दौड़ती है और फिर लालसा होती है। मन की चंचलता का कारण, ज्ञान का अभाव है। इन्द्रियां कौन हैं, उनका आत्मा से क्या सम्बन्ध है, मन तथा आत्मा में क्या अन्तर है और संसार के पदार्थों का रूप कैसा है, आदि बातें न जानने के कारण ही मन में चंचलता रहती है। इस लिए अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने एवं उसका पालन करने के लिए, सब से पहले संसार के पदार्थों का रूप और स्वभाव समझ कर मन को स्थिर करने, इन्द्रियों को बहिर्मुखी एवं भोग लोलुप न होने देने, और संसारिक पदार्थों की ओर से निस्पृह तथा निर्ममत्व रहने की आवश्यकता है। शरीरादि जो पदार्थ प्राप्त हैं, और जिनको त्यागा नहीं जा सकता, उनकी ओर से तो निर्ममत्व रहे, और जो पदार्थ अप्राप्त हैं, उनकी ओर से निस्पृह रहे। शरीर की ओर से भी किस प्रकार निर्ममत्व रहे, इसके लिए उत्तराध्ययन सूत्र के १९ वें अध्ययन में कहा है:—

वासी चंदन कप्पोय असणे अणसणे तहा।

अर्थात्—शरीर पर चाहे चंदन का लेप किया जावे, अथवा

शरीर को बसूले से छीला जावे, दोनों ही अवस्था में सुख दुःख न मान कर प्रसन्न ही रहे, और जो ऐसा करता है, उसके प्रति रागद्वेष भी न आने दे। इसी प्रकार मानापमान में भी समभाव ही रखे।

इस प्रकार सन्तुष्ट निस्पृह और निर्ममत्व रहने पर ही, अपरिग्रह व्रत का पालन हो सकता है।

अपरिग्रह व्रत स्वीकार और पालन करने वाले, निग्रन्थ कहे जाते हैं। निग्रन्थ का अर्थ है, किसी प्रकार की ग्रन्थि-गांठ या बन्धन में न रहना। परिग्रह, बन्धन है। जो इस बन्धन को तोड़ देता है, वह निग्रन्थ और मोक्ष का पथिक है। मोक्ष प्राप्ति के लिये शास्त्र में जो पांच महाव्रत बताए गए हैं, उनका पालन निग्रथ ही कर सकता है, और पंच महाव्रत का पालन करने वाला ही निग्रथ है। यद्यपि पंच महाव्रत में अपरिग्रह भी एक महाव्रत है, लेकिन यह महाव्रत सबसे बडा, दुष्कर, और प्रथम के चार महाव्रतों से पूर्ण सम्बन्ध रखने वाला है। जो इस महाव्रत का पालन करता है, वही इससे पहले के चार महाव्रत का भी पालन कर सकता है और जो प्रथम के चार महाव्रतों का पालन करता है, वही इस महाव्रत का भी पालन कर सकता है। पांचों परस्पर महाव्रत अत्यधिक घनिष्ट संबध रखते हैं, और यदि विचार किया जावे तो प्रथम

के चार महाव्रत इस पाँचवें महाव्रत में ही आजाते हैं। बल्कि ब्रह्मचर्य नाम का चौथा महाव्रत तो भगवान पार्श्वनाथ के समय तक, अपरिग्रह व्रत में ही माना जाता था, जिसे भगवान महावीर ने अलग, करके, चार महाव्रत के बदले पाँच महाव्रत बताये हैं।

अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने वाले सब प्रकार की इच्छा भी त्याग देते हैं, और शरीरादि जिन आवश्यक पदार्थों को वे नहीं त्याग सके हैं, उनके प्रति भी मूर्छा नहीं रखते। इच्छा और मूर्छा, उनके समीप होती ही नहीं है। वे अपने शरीर अथवा धर्मोपकरण के प्रति भी, निर्ममत्व ही रहते हैं। न स्वयं के पास ही कोई पदार्थ रखते हैं, न दूसरे के पास ही। वे यदि रखते हैं, तो केवल वे ही धर्मोपकरण रखते हैं, जिन्हें रखने के लिए शास्त्र में आज्ञा दी गई है। उनके सिवा कोई भी पदार्थ नहीं रखते।

यहाँ ये प्रश्न होते हैं, कि निग्रन्थ साधु धर्मोपकरण तथा शास्त्रादि क्यों रखते हैं? क्या उनकी गणना परिग्रह में नहीं है? इसी प्रकार वस्त्र रखने की भी क्या आवश्यकता है? जब तक वस्त्र हैं तब तक कैसे कहा जा सकता है, कि 'परिग्रह नहीं है'? और जब परिग्रह है, तब निग्रन्थ कैसे हुए, और मोक्ष कैसे जा सकते हैं? जो निग्रन्थ हैं, उसे तो दिगम्बर रहना चाहिये और अपने पास वस्त्र या धर्मोपकरण आदि कुछ भी न रखने चाहिएँ!

इन प्रश्नों का समाधान करने के लिए पहले कही हुई इस बात को दुहरा देना आवश्यक है, कि पदार्थ का नाम परिग्रह नहीं है, किन्तु उनपर ममत्व का नाम परिग्रह है। साधु लोग जो वस्त्र पात्र और धर्मोपकरण रखते हैं, उन्हें वे अपरिग्रह व्रत बतानेवाले भगवान तीर्थङ्कर की आज्ञा से ही रखते हैं, उनकी आज्ञा के विरुद्ध नहीं रखते। भगवान तीर्थङ्कर ने, साधक के लिए जिन वस्तुओं का त्यागना कठिन और रखना आवश्यक समझा, उन वस्तुओं के रखने का विधान कर दिया और यह मर्यादा बना दी, कि साधु इतने वस्त्र इतने पात्र और अमुक-अमुक धर्मोपकरण ही रख सकता है, जो इससे अधिक लम्बे चौड़े या भारी न हों और मर्यादानुसार रखे गये वस्त्र पात्र आदि में भी ममत्वभाव न हो। इस प्रकार भगवान ने जिनके रखने का विधान किया है, वे ही वस्त्र पात्रादि रखे जा सकते हैं, दूसरे या अधिक नहीं रखे जा सकते। यदि कोई उस मर्यादा से अधिक रखता है, अथवा मर्यादानुसार रख कर भी उनसे ममत्व करता है, तो वह अवश्य ही परिग्रही माना जावेगा। भगवान, त्रिकालदर्शी थे वे जानते थे, कि यदि मैं इस प्रकार का विधान न करूँगा और मर्यादा न बांध दूँगा तो आगे जाकर बहुत अनर्थ होगा तथा अपरिग्रही रहने के नाम पर वह कार्यवाही होगी, जैसी कार्यवाही परिग्रही ही कर सकता है। इसीलिये भगवान ने कुछ वस्त्र पात्र रखना सामान्यतः आवश्यक बता दिया है, और जिन धर्मोपकरण

का रखना आवश्यक बताया है आगे चलकर—उच्च दशा में-वे भी त्याज्य बताये हैं। अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने के पश्चात् भी मर्यादानुसार जिन वस्त्रों का रखना आवश्यक है, उच्च दशा में पहुँचने पर उन सब को भी क्रमशः त्यागने का, भगवान ने विधान किया है।

भगवती सूत्र में व्युत्सर्ग का वर्णन आया है। व्युत्सर्ग का अर्थ त्याग है। मन वचन और काय द्वारा बुरे कामों को त्याग देना व्युत्सर्ग है। व्युत्सर्ग के बाह्य और अभयन्तर ऐसे दो भेद, बताये गये हैं। ये दोनों भेद, द्रव्य और भाव व्युत्सर्ग के नाम से भी कहे जाते हैं। द्रव्य व्युत्सर्ग के चार भेद हैं, और भाव व्युत्सर्ग के तीन भेद हैं। द्रव्य व्युत्सर्ग के, शरीरोत्सर्ग, गणोत्सर्ग, उपधि व्युत्सर्ग और भात पानी व्युत्सर्ग ये चार भेद हैं। भाव व्युत्सर्ग के, कषाय-व्युत्सर्ग, संसार व्युत्सर्ग और कर्म व्युत्सर्ग, ये तीन भेद हैं। मोक्ष तो भाव व्युत्सर्ग से ही होता है, लेकिन भाव व्युत्सर्ग के लिए द्रव्युत्सर्ग का होना आवश्यक है। द्रव्युत्सर्ग के बिना भाव व्युत्सर्ग तक नहीं पहुंच सकता। यहां व्युत्सर्ग विषयक समस्त बातों का वर्णन आवश्यक नहीं है, यहां तो केवल यह बताना है, कि मुनि के लिए—आगे चल कर-शरीर, गण (गच्छ या सम्प्रदाय) उपधि (वस्त्र पात्र धर्मोपकरणादि) और भात पानी, ये सब भी त्याज्य हैं। जब तक

साधना का प्रारम्भ है, तभी तक इनका रखना आवश्यक है, और जैसे जैसे आगे बढ़ता जावे, वैसे ही वैसे ये भी त्याज्य हैं। आगे चल कर शरीर गच्छ उपाद्धि और भोजन-पानी को भी त्याग दे। इस प्रकार उच्च दशा में पहुंचे हुओं के लिए तो शरीर वस्त्र उपाद्धि भण्डोपकरण आदि सभी वस्तु त्याज्य हैं—यह तो जिन कल्प ही रहता है—लेकिन जब तक ऐसी क्षमता नहीं है, तब तक के लिए भगवान ने वस्त्र पात्र आदि की मर्यादा बता दी है, और उस मर्यादानुसार वस्त्र पात्र आदि रखने का विधान कर दिया है। यदि भगवान इस प्रकार का विधि-विधान न करते, तो आज के साधुओं को केवल कठिनाई ही न होती, किन्तु उनके द्वारा ऐसे कार्य होते, शरीर-रक्षा आदि के लिए वे ऐसे काम करते, जो वस्त्र पात्रादि रखने के कार्यों से भी बढ़ कर होते।

भगवान नें मुनि के लिए मर्यादानुसार वस्त्र रखने का विधान किया है, और वे मर्यादानुसार वस्त्र रखते भी हैं, फिर भी वे नग्न भावी ही हैं। क्योंकि, उन्हें वस्त्रों से न तो ममत्व ही होता है, न वे अधिक वस्त्र ही रखते हैं। इस लिए वस्त्र होने पर भी वे, भाव में नग्न भावी-अर्थात् नग्न ही माने जाते हैं। उच्च दशा में पहुचने पर वे उन थोड़े से वस्त्रों को भी त्याग सकते हैं, लेकिन इससे पहले ही वस्त्र त्याग देना, व्यवहारिक दृष्टि से भी उचित नहीं है। शरीर और गण का व्युत्सर्ग पहले बताया है, और

उपाधि का व्युत्सर्ग उसके पश्चात् है। जब शरीर पर बिलकुल ममत्व न रखे, और सम्प्रदाय से भी किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखे, किन्तु असंग रहता हो, अर्थात् वन में या गुफाओं में निवास करता हो, तभी उपधि का व्युत्सर्ग कर सकता है। शरीर से तो ममत्व है। शरीर की रक्षा का प्रयत्न तो करते हैं। लेकिन गच्छ को छोड़ बैठे; अथवा शरीर से भी ममत्व है और गच्छ में भी हैं, चेला—चेली अनुयायी आदि बनाते रहते हैं, और वस्त्र पात्र आदि उपाधि छोड़ बैठे, तो यह वैसा ही कार्य होगा, जैसा कार्य पगड़ी पहने रहने और धोती त्याग देने का हो सकता है।

तात्पर्य यह, कि शास्त्र में जिनकी आज्ञा दी गई है, उन वस्त्र पात्रादि धर्मोपकरण को रखने के कारण, निर्ग्रन्थ लोग परिग्रही नहीं कहे जा सकते। निर्ग्रन्थ होने पर भी किसी को कब परिग्रही कहा जा सकता है, और निर्ग्रन्थ भी किस प्रकार परिग्रही हो जाता है, यह बात थोड़े में बताई जाती है।

बहुत से लोग, अपरिग्रह व्रत स्वीकार कर और संसार के स्थूल पदार्थों का ममत्व त्याग कर भी, फिर परिग्रह में पड़ जाते हैं। वे स्थूल पदार्थों का ममत्व तो छोड़ देते हैं। लेकिन उनके हृदय में मान बड़ाई आदि की चाह बनी रहती है, अथवा बढ़ जाती है। कहावत ही है -

कंचन तजिवो सरल है, सरल तिरिया को नेह।
मान बढ़ाई ईर्षा, दुर्लभ तजिवो येह॥

अर्थात्—कनक कामिनी को छोड़ना कठिन नहीं है, लेकिन मान बढाई की चाह और ईर्षा को त्यागना बहुत ही कठिन है।

संसार में कनक (सोना) त्यागना बहुत कठिन माना जाता है। यद्यपि सोना खाने या शीत ताप वर्षा से बचने के काम का पदार्थ नहीं है, न उसमें गन्ध ही है, फिर भी वह बहुत मोहक पदार्थ है, और इसका एक मात्र कारण यही है, कि आज विनिमय (लेनदेन या बदला बदली) सोना के आश्रित हैं। सोना पास हो तो, संसार की सभी चीजें प्राप्त हो सकती हैं, तथा सोना ऐसी धातु है कि चाहे हजारों वर्ष तक पृथ्वीमें दबी रहे, तब भी न सड़ती है, न गलती है, न खराब होती है। यही कारण है कि लोगों को सोने से बहुत ममत्व होता है, तथा सोने का त्याग कठिन माना जाता है। जो सोने का त्याग कर देता है, उसने जैसे सोने द्वारा प्राप्त होने वाले संसार के समस्त पदार्थों का त्याग कर दिया है, और जो संसार के किसी भी पदार्थ से ममत्व करता है, वह सोने से कदापि ममत्व नहीं त्याग सकता। सांसारिक लोग, सोने में विशेषता देख कर ही उससे ममत्व करते हैं, और इसी से सोना, मोहक माना जाता है। सोने के पश्चात, स्त्री मोहिनी मानी जाती है। कोई कोई

ऐसे भी होते हैं, कि जो सोने से तो ममत्व त्याग देते हैं, लेकिन उन से स्त्री का ममत्व त्यागना बहुत कठिन होता है। कदाचित कोई सोने और स्त्री से ममत्व त्याग भी दे, इनको छोड़ भी दे, लेकिन तुलसीदासजी के कथनानुसार मान बड़ाई तथा ईर्षा का छोड़ना बहुत ही कठिन होता है, और जब तक इनका सद्भाव है, तब तक "परिग्रह छूटा है" ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि, एक तो ममत्व का नाम ही परिग्रह है। दूसरे, जहां मान बड़ाई की चाह और ईर्षा है, वहां सभी पाप सम्भव हैं।

अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने वाले-कई साधु, मान बड़ाई की चाह में पड़ जाते हैं और इस कारण दूसरे से ईर्षा करने लगते हैं। मान बड़ाई की चाह से वे लोग ऐसे ऐसे कार्य कर डालते हैं, जिनका वर्णन करना कठिन एवं आपत्तिजनक है। इसलिए इतना ही कह जाता है कि अपरिग्रह व्रत का पालन करने के लिए मान बड़ाई की चाह को हृदय से निकाल देना आवश्यक है। यदि इस प्रकार की चाह बनी हुई है तो फिर अपरिग्रह व्रत भी नहीं है।

यहां आज कल के साधुओं की कुछ समालोचना करना, अप्रासंगिक न होगा। आज कल के बहुत से साधु—अथवा साध्वी और सब कुछ तो त्याग भी देते हैं, लेकिन शिष्य-शिष्या-की इच्छा मूर्छा तो उन्हें दबा ही डालती है। शिष्य-शिष्या की इच्छा मूर्छा

की प्रेरणा से, उनके द्वारा ऐसे ऐसे कृत्य भी हो जाते हैं, कि जैसे कार्य सन्तान की इच्छा मूर्छा वाले गृहस्थ से भी न होते होंगे। यद्यपि शिष्य शिष्या की इच्छा मूर्छा रखने वाले साधु साध्वी-प्रकट में यह अवश्य कहते हैं, कि हम धर्म या सम्प्रदाय की वृद्धि के लिए ऐसा करते हैं, परन्तु विचार करने पर ज्ञात होगा, कि शिष्य शिष्या की इच्छा मूर्छा वाले साधु-साध्वी में, और सन्तान की मूर्छा वाले गृहस्थ स्त्री पुरुष में क्या अन्तर रहा ! इच्छा-मूर्छा की दृष्टी से तो दोनों समान ही ठहरते हैं, और धर्म वृद्धि का कहना तो एक बहाना मात्र है। हां कोई कोई महात्मा ऐसे भी हैं जो धर्म वृद्धि के लिए ही शिष्य शिष्या बनाते हैं, लेकिन उन में शिष्य शिष्या की इच्छा मूर्छा नहीं होती।

शिष्य-शिष्या की ही तरह, कई साधु-साध्वियों के लिए, सम्प्रदाय और उसकी रूढ़ि परम्परा भी परिग्रह रूप हो जाती है। यह मेरी सम्प्रदाय या परम्परा है, इसलिए चाहे यह सम्प्रदाय या परम्परा ठीक न भी हो, तब भी मैं इसकी वृद्धि ही करूंगा, इसकी रक्षा का ही प्रयत्न करूंगा, कहीं किसी के द्वारा मेरी सम्प्रदाय की कोई क्षति न हो जावे, मुझे अपनी रूढ़ि परम्परा न त्यागनी पड़े आदि प्रकार की चिन्ता और ऐसा भय भी परिग्रह रूप ही है। इसी प्रकार विद्या सूत्र ज्ञान आदि भी, कभी कभी परिग्रह रूप हो जाता है। मैं इतने सूत्रों

का जानकार हूँ, मैं अमुक–अमुक विद्या जानता हूँ आदि अहंभाव, विद्या और सूत्रज्ञान को भी परिग्रह रूप बना देता है।

कुछ साधुओं को समाज के धन की भी चिन्ता रहती है। मेरे अनुयायियों का धन खर्च होता है, इस विचार से कई साधु चिन्तित रहते हैं, और अनुयायियों के धन की रक्षा का प्रयत्न करते हैं। यह भी एक परिग्रह ही है, यदि इसको परिग्रह न कहा जावेगा, तो कुटुम्ब का वृद्ध आदमी अपने कुटुम्ब के द्रव्य की रक्षा की जो चिन्ता करता है—जो प्रयत्न करता है—वह भी परिग्रह न कहा जावेगा।

कुछ साधुओं को, अपनी प्रसिद्धि की बहुत इच्छा रहती है। इसके लिए वे स्वयं ही, अथवा अनधिकारियों या अनुयायियों द्वारा कोई उपाधि प्राप्त करके अपने नाम के साथ उपाधि लगा लेते हैं, लेख और पुस्तकें दूसरों से लिखवा कर अपने नाम से प्रकाशित करवाते हैं, सामाजिक कार्यों में भी भाग लेते हैं, अथवा ऐसे ही अन्य कार्य भी करते हैं। लेकिन वस्तुतः प्रसिद्धि की इच्छा भी, परिग्रह ही है। जब तक इस प्रकार का भी परिग्रह है, तब तक अपरिग्रह व्रत का पूर्णतया पालन हो ही नहीं सकता। अपरिग्रह व्रत का पालन तो तभी हो सकता है; जब हृदय में किसी भी प्रकार की चाह न रहे, किसी भी वस्तु से ममत्व न हो किसी भी प्रकार की चिन्ता न हो, न किसी भी तरह का भय ही रहे,

किन्तु निस्पृह निर्ममत्व तथा चिन्ता भय रहित रहे। साथ ही भगवान की आज्ञा से जो वस्त्र पात्र एवं उपधि रखता है, जिस सम्प्रदाय (गच्छ) में रह कर धर्म साधन करता है, और जिस शरीर में आत्मा बस रहा है, उसके लिए भी यह भावना करता रहे कि मैं अब इन सब से भी ममत्व न रखूंगा, तथा वह दिन कब होगा, जब मैं जीवन के लिए आवश्यक माना जाने वाला अन्न पानी भी त्याग दूंगा और जीवन मुक्त हो जाऊंगा। और जो इस प्रकार रहता है, वही अपरिग्रह व्रत का पालन करने वाला है। इस व्रत को जिसने स्वीकार किया है, उसके हृदय में संयोग वियोग का सुख दुःख तो होना ही न चाहिए, न स्वर्गादि के सुखों की अभिलाषा ही होना चाहिए।

इच्छा परिमाण व्रत

परिग्रह का रूप और उससे होने वाली हानि का वर्णन किया जा चुका है। साथ ही अपरिग्रह व्रत का रूप भी बताया जा चुका है। सर्वथा आत्म कल्याण की इच्छा रखने वाले के लिए तो, अपरिग्रही बनना और किसी भी सांसारिक पदार्थ के प्रति इच्छा मूर्छा न रखना ही आवश्यक है, लेकिन जो लोग संसार व्यवहार में बैठे हुए हैं, वे भी क्रमशः मोक्ष की ओर अग्रसर हो सकें, इसलिए भगवान ने ऐसे लोगों के वास्ते इच्छा परिमाण व्रत बताया है। संसार व्यवहार में रहने वाले लोगों के लिए, सांसारिक पदार्थों का सर्वथा त्याग होना कठिन है। उनमें से इच्छा और

मूर्छा का बिल्कुल अभाव नहीं हो सकता, न वे सांसारिक पदार्थों से असंग ही रह सकते हैं। संसार-व्यवहार में रहने के कारण, उनके लिए सांसारिक पदार्थों का संग्रह और सांसारिक पदार्थों के प्रति इच्छा मूर्छा का होना भी स्वाभाविक समझा जाता है। संसार में कहावत ही है, कि 'साधु के पास कौड़ी होतो वह कौड़ी का, और गृहस्थ के पास कौड़ी न होतो वह कौड़ी का।' एक कवि भी कहता है :—

माता निन्दति नाभिनन्दति पिता भ्राता न संभाष्यते।
भृत्यः कुप्यति नानु गच्छति सुतः कान्ता च ना लिंगते॥
अर्थं प्रार्थन शंकया न कुरुते ऽप्यालाप मात्रं सुहृत् ।
तस्मादर्थ मुपार्जयस्व च सखे ! ह्यर्थस्य सर्वे वशाः ॥

अर्थात्—धन न होने पर, माता निन्दा करती है पिता आदर नहीं करता, भाई बोलते नहीं हैं, पुत्र आज्ञा का पालन नहीं करते, नौकर चाकर नाराज रहते हैं, स्त्री स्पर्श नहीं करती, और 'यह कुछ माँगने न लगे' इस भय से मित्र लोग कोरी बात भी नहीं करते। इसलिये हे मित्र, धन कमाओ। सब लोग धन के ही वश हैं।

इस प्रकार जैसे संसार-व्यवहार से निकले हुए साधु के लिए किसी भी सांसारिक पदार्थ का रखना निन्द्य समझा जाता है, उसी

प्रकार सांसारिक लोग उस संसार-व्यवहार में रहे हुए की भी निन्दा अवहेलना करते हैं, जो सांसारिक पदार्थों से हीन है। जो संसार व्यवहार में है, उसके लिए सांसारिक पदार्थों का संग्रह आवश्यक माना जाता है, और दूसरी ओर धर्मशास्त्र सांसारिक पदार्थों को त्याज्य बतलाते हैं। ऐसी दशा में गृहस्थों के लिए ऐसा कौन—सा मार्ग रह जाता है, जिसको अपनाने पर वे संसार-व्यवहार में हीन दृष्टि से भी न देखे जावें, और धार्मिक-दृष्टि से भी पतित न समझे जावें? इस बात को दृष्टि में रख कर ही, भगवान ने इच्छा-परिमाण व्रत बताया है। भगवान जानते थे, कि गृहस्थ लोग इच्छा का सर्वथा त्याग नहीं कर सकते, और जिस दिन वे इच्छा का सर्वथा त्याग कर देंगे, उस दिन से ससार-व्यवहार में रहना भी त्याग देंगे, या संथारा कर लेंगे। लेकिन संसार-व्यवहार में रहते हुए इच्छा का सर्वथा निरोध कठिन है। ऐसी दशा में यदि उन्हें भी अपरिग्रह व्रत ही बताया जावेगा, तो उनसे अपरिग्रह व्रत का पालन भी न होगा, और दूसरी ओर उनके द्वारा अनेक अनर्थ भी होंगे तथा उन्हें कठिनाई भी उठानी होगी। इसलिए जब तक उनमें संसार-व्यवहार से सर्वथा निकलने की क्षमता न हो, उनमें पूर्ण सन्तोष और पूर्ण धैर्य न हो, तब तक उन्हें अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने का कहना उन पर ऐसा बोझ डालना है, जिसे वे उठा नहीं सकते। इस प्रकार के विचारों से भगवान ने, गृहस्थों के लिए इच्छा परिमाण व्रत बताया है।

इच्छा परिमाण व्रत का अर्थ है, सांसारिक पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाली इच्छा को सीमित करना। यह निश्चय करना, कि मैं इतने पदार्थों से अधिक की इच्छा नहीं करूंगा। इस प्रकार की जो प्रतिज्ञा की जाती है, उसका नाम 'इच्छा परिमाण व्रत' है। अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने के लिए, संसार के समस्त पदार्थों का विरमण करना होता है, संसार के समस्त पदार्थ त्यागने होते हैं, अपरिग्रही होना होता है, लेकिन इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने के लिए संसार के समस्त पदार्थ नहीं त्यागने पड़ते। हां वे पदार्थ तो अवश्य त्यागने होते हैं, जिनकी गणना महान् परिग्रह में है। इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाले को इस बात की प्रतिज्ञा करनी होती है, कि मैं इन पदार्थों से अधिक पदार्थ अपने अधिकार में न रखूंगा, और इन पदार्थों के सिवा किसी पदार्थ की इच्छा भी न करूंगा। इस प्रकार देश से परिग्रह का विरमण करके महान् परिग्रही न होने के लिए जो प्रतिज्ञा की जाती है, उसका नाम इच्छा परिमाण व्रत है। इस व्रत को स्वीकार करने के लिए, पदार्थों की मर्यादा की जाती है। कुछ पदार्थों के सिवा शेष पदार्थों की ओर से अपनी इच्छा को रोक लेना ही, इच्छा-परिमाण व्रत है। इस व्रत का नाम, परिग्रह परिमाण व्रत है।

अब यह बताते हैं, कि इस व्रत को स्वीकार करने वाला किन

किन पदार्थों के विषय में मर्यादा करता है। इसके लिए शास्त्रकारों ने परिग्रह के दो भेद कर दिये हैं, सचित परिग्रह और अचित परिग्रह। सचित परिग्रह उस सांसारिक पदार्थ--या पदार्थों का नाम है, जिसके भीतर जान है। जैसे मनुष्य पशु पक्षी पृथ्वी वनस्पति आदि। इस भेद में कुटुम्ब के लोग दास दासी, हाथी घोड़े गाय बैल भैंस आदि पशु, कीर मोर चकोर आदि पक्षी, किसी और प्रकार के जीव, भूमि नदी तालाब वृक्ष अन्न आदि वे सभी प्रकार की वस्तुएँ आ जाती हैं, जिन में जीव है। जो पदार्थ इस भेद में आने से शेष रह जाते हैं, यानी जो जानदार नहीं हैं, उनकी गणना अचित परिग्रह में है। सोना चाँदी वस्त्र पात्र औषध भेषज घर हाट नोहरा बरतन आदि समस्त वे पदार्थ जिनमें जान नहीं है, किन्तु जो निर्जीव हैं, अचित परिग्रह में हैं। संसार में जितने भी पदार्थ हैं, वे या तो सचित हैं, या अचित हैं। इन दोनों भेद में सभी पदार्थ आ जाते हैं। इसलिए इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाला, संसार के समस्त पदार्थों के विषय में यह नियम करता है, कि मैं अमुक पदार्थ इस परिमाण से अधिक अपने अधिकार में न रखूँगा, अथवा अमुक पदार्थ अपने अधिकार में रखूँगा ही नहीं, और इस परिमाण से अधिक की इच्छा भी न करूँगा।

जन साधारण की सुविधा के लिये शास्त्रकारों ने, सचित और

अचित परिग्रह को नव भागों में विभक्त कर दिया है। वे नव भेद, 'नव प्रकार का परिग्रह' नाम से प्रख्यात हैं, और उनके नाम ये हैं- क्षेत्र[१] (खेत आदि भूमि) वास्तु[२] (निवास योग्य स्थान) हिरण्य[३] (चाँदी) सुवर्ण[४] (सोना) धन[५] (सोने चाँदी के ढले हुए सिक्के, अथवा घी गुड़ शक्कर आदि मूल्यवान पदार्थ) धान्य[६] (गेहूँ चावल तिल आदि) द्विपद[७] (जिनके दो पाँव हों, जैसे मनुष्य और पक्षी) चौपद[८] (जिनके चार पाँव हों, जैसे हाथी घोड़े गाय बैल भैंस बकरी आदि) और कुप्य[९] (वस्त्र पात्र औषध वासन आदि)। इन नव भेदों में, सचित और अचित, अथवा जड़ और चैतन्य, अथवा स्थावर और जंगम वे सभी पदार्थ आ जाते हैं, जिनसे मनुष्य को ममत्व होता है, अथवा मनुष्य जिनकी इच्छा करता है। क्षेत्र से मतलब उत्पादक खुली भूमि से है। इसलिए क्षेत्र में, खेत बाग पहाड़ खदान चरागाह जंगल आदि समस्त भूमि आ जाती है। यह व्रत स्वीकार करने वाले को क्षेत्र के विषय में मर्यादा करना, कि मैं इतनी भूमि—खेत बाग पहाड़ या गोचर भूमि आदि—से अधिक अपने अधिकार में भी नहीं रखूँगा, न इससे अधिक की इच्छा ही करूँगा। दूसरा भेद वास्तु है। वास्तु का अर्थ है गृह। जमीन के भीतर या ऊपर या भीतर ऊपर बने हुए घरों के विषय में भी परिमाण करना, कि मैं इतने गृह—जो इतने से अधिक लम्बे चौड़े और ऊँचे न होंगे, तथा जिनका मूल्य इतने से अधिक न

हेगा— से अधिक गृह अपने अधिकार में न रखूँगा, न अधिक की इच्छा ही करूँगा। धन से मतलब सिक्का और अन्य मूल्यवान वस्तुएँ मणि माणिक गुड घी शक्कर आदि—हैं। इनके विषय में भी परिमाण करना, कि मैं ये सब या इनमें से अमुक-अमुक वस्तु इतने परिमाण और इतने मूल्य से अधिक की न रखूँगा, न इच्छा ही करूँगा। धान्य से मतलब अन्नादि है; जैसे धान चावल गेहूँ चना तुवर तिल आदि। इन सब के लिए भी मर्यादा करना, कि मैं धान्य में से अमुक धान्य इतने परिमाण से या इतने मूल्य से अधिक का अपने अधिकार में न रखूँगा, न इतने से अधिक की इच्छा ही करूँगा। हिरण्य से मतलब चाँदी है। चाँदी के विषय में भी यह परिमाण करना, कि मैं चाँदी अथवा चाँदी की वस्तुएँ इतने परिमाण से अधिक न रखूँगा, न अधिक की इच्छा ही करूँगा। इसी प्रकार सोने के विषय में भी परिमाण करना, कि इस परिमाण से अधिक सोना या सोने से बनी हुई वस्तुएँ न रखूँगा, न अधिक की इच्छा ही करूँगा।

इन सब की ही तरह द्विपद की भी मर्यादा करना। द्विपद में अपनी स्त्री, अपने पुत्र और अन्य सम्बन्धी भी आजाते हैं, तथा दास दासी नौकर चाकर आदि भी आजाते हैं। साथ ही मयूर हंस कीर मोर चकोर आदि पक्षी भी आ जाते हैं। मतलब यह, कि जिनके दो पाँव हैं, उन मनुष्य अथवा पक्षी के

विषय में भी यह मर्यादा करना, कि मैं इतने से अधिक न रखूँगा, न अधिक की इच्छा ही करूँगा। इसी प्रकार चतुष्पद के लिए भी परिमाण करना। चतुष्पद से मतलब उन जीवों से है, जिनके चार पांव होते हैं, और जो पशु कहलाते हैं। पशुओं के विषय में भी यह मर्यादा करना, कि इतने हाथी घोड़े ऊंट गाय बैल भैस खच्चर गधे भेड बकरी हरिण सिंह आदि, से अधिक न तो रखूँगा न अधिक की इच्छा ही करूगा।

इन आठ भेदों में आने से जो पदार्थ शेष रह जाते हैं, उनकी गणना कुप्य में है। जिनकी इच्छा होती है या हो सकती है, और जो गृहस्थी में काम आते हैं या आ सकते हैं, उन सब पदार्थों का भी परिमाण करना। कुप्य का अर्थ साधारणतया ग्रहस्थी का फैलाव (घर वाखरा, अर्थात् घर में जो छोटी बाड़ी चीजें होती हैं) किया जाता है। इसलिए इसका भी पारिमाण करना, कि मैं इतने से अधिक का घर वाखरा न रखूगा, न इतने से अधिक की इच्छा ही करूँगा।

इस प्रकार समस्त वस्तुओं के विषय में यह मर्यादा करना, कि मैं इतने पारिमाण से अधिक कोई वस्तु न तो अपने अधिकार में रखूँगा हो न इतने से अधिक की इच्छा ही करूँगा, इच्छा-परिमाण या परिग्रह-पारिमाण व्रत कहलाता है। जो परिग्रह से सबंध

नहीं निवर्त सकते, उन गृहस्थों को यह व्रत तो स्वीकार करना है चाहिए। इस व्रत को स्वीकार करने से उनके गार्हस्थ्य-जीवन में किसी प्रकार की कठिनाई भी नहीं आती, और अनन्त इच्छा भी नहीं रहती। इस व्रत को स्विकार करनेवाला, महा परिग्रही नहीं कहलाता, किन्तु अल्प परिग्रही कहलाता है। इस कारण यह व्रत स्वीकार करनेवाले की गणना, धार्मिक लोगों में होती है। वह व्यक्ति, धर्मात्मा माना जाता है। ऐसा व्यक्ति, महान् पाप से बच कर मोक्ष-मार्ग का पथिक होता है।

वैसे तो परिग्रह से सर्वथा मुक्त होना ही श्रेयस्कर है, भगवान महावीर का उपदेश भी यही है; लेकिन जो लोग परिग्रह का सर्वथा त्याग नहीं कर सकते, फिर भी भगवान के उपदेश पर विश्वास रख कर कुछ भी त्याग करते हैं, उनको भी लाभ ही होता है। भगवान के कथन पर विश्वास रख कर कुछ भी त्याग करने से किस प्रकार लाभ होता है, यह बात एक दृष्टान्त द्वारा समझाई जाती है।

एक राजा और उसके मन्त्री के यहाँ पुत्र न था। राजा सोचा करता था, कि मेरे पश्चात् प्रजा की रक्षा का भार कौन उठावेगा! इसी प्रकार मन्त्री के भी कोई पुत्र नहीं है, अतः मन्त्री के बाद मन्त्रित्व भी कौन करेगा! राजा और मन्त्री, इसी

प्रकार के विचारों से पुत्र के लिए चिन्तित रहा करते थे। उन्होंने पुत्र-प्राप्ति के लिए प्रयत्न भी किये, परन्तु सब प्रयत्न निष्फल हुए।

राजा और मन्त्री ने सुना, कि नगर के बाहर एक सिद्ध पुरुष आये हैं जो बहुत करामाती हैं। वे शायद हमारी अभिलाषा पूर्ण होने का उपाय बता सकें, यह सोच कर राजा और मन्त्री उस सिद्ध के पास गये उचित अभिवादन और कुशल प्रश्न के पश्चात् राजा उस सिद्ध से कहने लगा, कि महाराज, मेरे पुत्र नहीं है। मेरे को इस बात की सदा चिन्ता रहा करती है, कि मेरे पश्चात राज धर्म का पालन कौन करेगा और मैं प्रजा की रक्षा का भार किस को सौंपूंगा! इसी प्रकार मेरे इस मन्त्री के भी पुत्र नहीं है। कृपा करके आप कोई ऐसा उपाय बताइये, कि जिससे हमारी यह चिन्ता दूर हो और हमारे पश्चात प्रजा की समुचित प्रकारेण रक्षा हो।

राजा की बात सुन कर सिद्ध समझ गया, कि इन दोनों को अपने अपने उत्तराधिकारी की चिन्ता है। उसने राजा से कहा कि तुम दोनों योग्य उत्तराधिकारी ही चाहते हो न!

राजा—हां।

सिद्ध—यदि पुत्र हुए बिना किसी दूसरे उपाय से योग्य उत्तराधिकारी प्राप्त हो जावे तो!

राजा—हमें कोई आपत्ति नहीं है।

सिद्ध—इसके लिये, मैं उपाय बताता हूँ उसके अनुसार कार्य करो तो तुम दोनों को योग्य उत्तराधिकारी मिल जावेंगे। यदि आप के यहाँ पुत्र हुए भी, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे योग्य ही होंगे, लेकिन मै जो उपाय बताता हूँ उसके द्वारा तुम्हें योग्य उत्तराधिकारी प्राप्त होंगे।

राजा—यह तो प्रसन्नता की बात है।

सिद्ध—तुम लोग, अपने नगर में किसी भिखमगों को खूब टुकडे बटवाना। फिर सब भिखमगो को एक जगह एकत्रित करना और उन में से एक एक को निकाल कर उन से कहते जाना, कि तुम अपने पास के टुकड़े फेंक दो, तो हम तुमको राज्य देंगे। जो भिखमंगा तुम्हारे इस कथन पर विश्वास न करे, उसको जाने देना। जो विश्वास तो करे फिर भी भविष्य के लिए कुछ टुकड़े रहने देकर शेष फेंक दे, और जो पूरी तरह विश्वास करके सब टुकड़े फेंक दे, उन दोनों को रख कर बाकी सब भिखमगों को चले जाने देना। इन दोनों में से जिसने सब टुकड़े फेंक दिये हों, उसको राजा बना देना और जिसने कुछ रख कर शेष फेंक दिये हों, उसे मन्त्री बना देना। वे दोनों, तुम दोनों के योग्य उत्तराधिकारी होंगे और उनके द्वारा प्रजा की भी पूरी तरह रक्षा होगी।

राजा और मन्त्री को सिद्ध पर विश्वास था, इसलिए उन्होंने सिद्ध का कथन स्वीकार किया। सिद्ध को अभिवादन करके राजा और मन्त्री, नगर को लौट आये। कुछ दिनों बाद राजा ने नगर में यह घोषित करा दिया, कि आज अमुक समय से अमुक समय तक भिखमगों को खूब रोटी-टुकड़े बांटे जावें। राजा और मन्त्री ने, अपनी ओर से भी भिखमंगों को खाने की बहुत-सी चीजें बंटवाई। फिर सब भिखमगों को एक बाड़े में एकत्रित किया गया। राजा और मन्त्री उस बाड़े के द्वार पर बैठ गये, तथा हुक्म दिया, कि एक एक भिखारी को बाहर आने दिया जावे। राजा की आज्ञानुसार एक एक भिखारी बाड़े से बाहर आने लगा। जो भिखारी बाहर आता, उससे राजा कहता, कि तू अपने पास के टुकड़े फेंक दे तो मैं तेरे को मेरा राज्य दूँगा। राजा, प्रत्येक भिखारी से ऐसा कहता, लेकिन उन लोगों को राजा के कथन पर विश्वास ही न होता। वे सोचते, कि बहुत दिनों के बाद तो हमें इतना खाने को मिला है! राजा का क्या भरोसा! यह अभी तो राज्य देने को कहता है, लेकिन यदि इसने राज्य न दिया तो हम इसका क्या कर लेंगे। पास के टुकड़े फेंक कर, और भूखों मरेंगे!

इस प्रकार विचार कर भिखमंगे लोग राजा के कथन के उत्तर में कहते कि—'हे हुजूर, मेरे भाग्य में राज्य कहाँ! मेरे भाग्य में तो टुकड़ा माँग कर खाना है।' कोई भिखारी इस तरह

कहता और कोई दूसरी तरह कहता, लेकिन राजा के कथन पर विश्वास करके किसी ने भी टुकड़े नहीं फेंके। राजा, इस तरह के भिखारी को जाने देता और दूसरे को बुलाता। होते होते एक भिखारी आया। राजा ने उससे भी टुकड़े फेंक देने के लिए कहा। राजा का कथन सुनकर उस भिखारी ने सोचा, कि यह राजा है, झूठ बात कह कर मेरे पास के टुकड़े फेंकवाने से इसको क्या लाभ हो सकता है? लेकिन दूसरी ओर मैंने अभी कुछ भी नहीं खाया है। यदि इसने टुकड़े फिंकवाने के बाद राज्य न दिया, तो मुझे अभी ही भूखों मरना पड़ेगा। इसलिए सब टुकड़े फेंकना ठीक नहीं।

इस प्रकार सोच कर उस भिखारी ने, कुछ अच्छे-अच्छे टुकड़े रख लिये और बाकी के टुकड़े फेंक दिये। राजा ने उस भिखारी को बैठा लिया।

अनेक भिखमगों के बाद एक भिखमंगा फिर ऐसा ही आया। राजा ने उससे भी ऐसा ही कहा। उस भिखारी ने सोचा, कि यह राजा है। यह टुकड़े फेंक देने पर राज्य देने का कहता है, फिर भी यदि टुकड़े फेंकने पर राज्य न देगा, तो जितने टुकड़े फिकवाता है उतने टुकड़े तो देगा! और कदाचित उतने टुकड़े भी न देगा, तो जाने तो देगा! मैं, और टुकड़े माँग लूँगा। इस प्रकार विचार कर, उसने अपने पास के सब टुकड़े फेंक दिये राजा उस भिखारी को तथा पहले वाले भिखारी को साथ लेकर

महल को चल दिया, और शेष सब भिखारियों को भी चला जाने दिया। दोनों भिखारियों को महल में लाकर राजा ने, सब टुकडे फेंक देने वाले भिखारी को अपना उत्तराधिकारी बनाया, और थोड़े टुकड़े रख लेनेवाले भिखारी को मन्त्री का उत्तराधिकारी बनाया। आगे जाकर दोनों भिखारी, योग्य राजा तथा मन्त्री हुए और प्रजा का पालन करने लगे।

यह दृष्टान्त है। इस दृष्टान्त के अनुसार, भगवान महावीर राजा हैं और संसार के जीव सांसारिक–पदार्थ रूपी टुकड़ों के भिखारी हैं। भगवान महावीर संसार के जीवों से कहते हैं, कि जो कोई इन सांसारिक–पदार्थ रूपी टुकड़ों को फेंक देगा, उसे मेरा पद प्राप्त होगा। भगवान महावीर के इस कथन पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है, फिर भी जो लोग भगवान के कथन पर विश्वास नहीं करते, तथा सांसारिक–पदार्थों को नहीं त्यागते, वे तो भिखारी के भिखारी ही बने रहते हैं, और जो सांसारिक पदार्थों को सर्वथा त्याग देते हैं—परिग्रह से निवर्त जाते हैं—वे सिद्ध पद प्राप्त कर लेते हैं। जो लोग सांसारिक पदार्थ रूपी टुकड़े को सर्वथा नहीं त्याग सकते, उनको उचित है, कि वे भिखारियों में तो न रहें! महा परिग्रह रूप खराब-खराब टुकड़े फेंक कर श्रावक पद रूप भगवान के पद का मन्त्रित्व तो प्राप्त करें!

तात्पर्य यह, कि जब तक हो सके तब तक तो भगवान

महावीर के उपदेशानुसार समस्त पदार्थों को त्याग कर अपरिग्रही होना ही अच्छा है। आत्मा का निकट कल्याण तो इसी में है। फिर भी यदि परिग्रह को सर्वथा नहीं त्याग सकते, तो महापरिग्रही तो न रहो! महा परिग्रह तो त्याग दो! ऐसा करने वाला, साधु नहीं तो श्रावक तो होगा ही, और मोक्ष का पथिक भी कहलावेगा। सांसारिक-पदार्थ रूपी टुकड़ों से जितना भी ममत्व है, प्रत्येक दृष्टि से उतनी ही हानि भी है। सांसारिक पदार्थ, मोक्ष रूपी राज्य से तो वञ्चित रखते ही हैं, साथ ही उनके कारण इसलोक में भी अनेक प्रकार की चिन्ता, अनेक प्रकार के दुःख और सब प्रकार का पाप होता है। इसलिए सांसारिक-पदार्थों को जितना भी त्यागा जा सके, त्यागना चाहिए।

इच्छा परिणाम व्रत को, तीन करण तीन योग में से जिस तरह भी चाहा जावे, स्वीकार किया जा सकता है और द्रव्य क्षेत्र काल भाव की भी जैसी चाहे वैसी मर्यादा की जा सकती है। फिर भी यह व्रत इच्छा को मर्यादित करने का है, और इच्छा का उदगम स्थल मन है, इसलिए इस व्रत को एक करण तीन योग से स्वीकार करना ही ठीक है। इसी प्रकार द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के विषय में भी मर्यादा करनी चाहिए, कि मै द्रव्य से अमुक अमुक वस्तु के सिवा अधिक की इच्छा नहीं करूँगा, न इनके सिवा और वस्तु अपने अधिकार में ही रखूँगा। क्षेत्र से, अमुक क्षेत्र से बाहर की वस्तु की इच्छा भी नहीं करूँगा, न अमुक क्षे[illegible]

से बाहर की कोई वस्तु मर्यादा में ही रखूँगा। काल के विषय में भी मर्यादा करना, कि मैं इतने दिन मास वर्ष या जीवन भर इन-इन चीजों से अधिक की न तो इच्छा ही करूँगा, न अपने अधिकार में ही रखूँगा। इसी प्रकार भाव की भी मर्यादा करना।

जो परिग्रह को दुख तथा बन्धन का कारण मानता है, वही परिग्रह को त्याग सकता है। लेकिन जो ऐसा मानता तो है फिर भी स्वय को सम्पूर्ण परिग्रह त्यागने में असमर्थ देखता है, वह इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करता है। जो परिग्रह को दुःख तथा बन्धन का कारण मान कर इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करता है वह विस्तीर्ण मर्यादा नहीं रखता, किन्तु संकुचित मर्यादा रखता है। क्योंकि उसका ध्येय परिग्रह को सर्वथा त्यागना होता है, और इस ध्येय तक तभी पहुँचा जा सकता है, जब ममत्व को अधिक से अधिक घटाया जावे।

इच्छा परिमाण व्रत का उद्देश्य ममत्व को घटाना है, इसलिए मर्यादा अधिक से अधिक संकुचित रखनी चाहिए। विस्तीर्ण मर्यादा रखना ठीक नहीं। मर्यादा जैसी सकुचित होगी, दुःख और ससार-भ्रमण भी वैसा ही सकुचित हो जावेगा, तथा मर्यादा जितनी विस्तीर्ण होगी दुःख और-जन्म मरण भी उतना ही अधिक रहेगा। इसलिए यथा शक्ति मर्यादा को अधिक से अधिक

संकुचित रखना चाहिए, और ऐसा करने के लिए यह ध्यान में रखना चाहिए, कि अधिक परिग्रह अधिक दुःख का कारण है, तथा अल्प परिग्रह अल्प दुःख का कारण है, लेकिन परिग्रह है दुःख का ही कारण; और इससे जितना निवृतता है, उतना ही दुखः-मुक्त होता है।

परिग्रह परिणाम व्रत में विस्तीर्ण मर्यादा रखने से पारलौकिक हानि तो है ही, साथ ही मर्यादा में रखा हुवा धन कभी न कभी तो त्यागना ही होता है। उसको कोई साथ तो ले नहीं जा सकता। सिकन्दर, अपने समय का बहुत बड़ा बादशाह माना जाता था, उसने यूरोप और एशिया का अधिकान्श भाग जीत लिया था, और वह उस भाग का बादशाह था। फिर भी वह मरने पर उस राज्य सम्पदा में कुछ भी अपने साथ न ले जा सका। सब कुछ यहीं रह गया। सिकन्दर ने यह देख कर, कि मैं मर रहा हूँ और कोई सम्पत्ति मेरा साथ न देगी, यह आज्ञा दी, कि मेरे दोनों हाथ कफन से बाहर रखे जावें। उसने अपने चोबदार को इस आज्ञा का कारण भी बता दिया था। इस प्रकार की आज्ञा देकर, सिकन्दर मर गया। उसका जनाजा निकला। सिकन्दर के दोनों हाथ जनाजे से बाहर निकले हुवे थे। रीती-परम्परा के विरुद्ध बादशाह के हाथ जनाजे से बाहर निकले हुए देख कर, लोगों को बहुत आश्चर्य हो रहा था।

जब जनाजा चौराहे पर पहुँचा तब चोबदार ने आवाज देकर सब लोगों से कहा, कि आपके बादशाह के हाथ जनाजे से बाहर क्यों निकले हुए हैं, इसका कारण सुन लीजिये। सब लोग चोबदार की बात सुनने के लिए खड़े होगये। चोबदार कहने लगा, कि बादशाह ने अपने हाथ जनाजे से बाहर रखने की आज्ञा यह बताने के लिए दी थी, कि मैंने अनेक देशों को जीता, बहुत सी सम्पत्ति एकत्रित की और इसके लिए बहुत लोगों को मारा, लेकिन मैं मौत को न जीत सका। इस कारण आज मैं तो जा रहा हूँ, परन्तु जिस राज्य सम्पदा के लिए मैंने यह सब किया था, वह यहीं रह गई है। देख लो ये मेरे दोनों ही हाथ खाली हैं; इसलिए जैसी गल्ती मैंने की, वैसी गल्ती और कोई मत करना।

चोबदार द्वारा सिकन्दर की कही हुई बात सुन कर, लोगों को बहुत प्रसन्नता हुई। सब लोग, इस उपदेश के लिए सिकन्दर की प्रशंसा करने लगे। इस घटना के कारण ही यह कहा जाता है कि—

लाया था क्या सिकन्दर और साथ ले गया क्या ?
थे दोनों हाथ खाली बाहर कफ़न से निकले।

तात्पर्य यह, कि चाहे कैसी भी बड़ी सम्पत्ति हो, मरने के समय तो छोड़नी ही होगी; और जिसके पास जितनी ज्यादा सम्पत्ति है, मरने के समय उसको उतना ही ज्यादा दुःख होगा।

इसलिए पहले ही अधिक से अधिक धन-सम्पदा क्यों न त्याग दी जावे, जिसमें मरने के समय भी आनन्द रहे, और मरने के पश्चात भी। इस व्रत को स्वीकार करने में सांसारिक पदार्थों का जितना भी त्याग किया जा सके, मर्यादा को जितनी कम किया जा सके और इच्छा को जितना घटाया जा सके, उतना ही अच्छा है। यह न हो, कि सीमा को पहले ही बहुत बढ़ा कर लिया जावे। उदाहरण के लिये पास में सम्पत्ति तो केवल पाँच ही रुपये हैं, और व्रत में लाख रुपये की मर्यादा करता है। यद्यपि लाख रुपये से अधिक की इच्छा का त्याग करना तो अच्छा ही है, फिर भी ऐसा करने से यह स्पष्ट है, कि पास तो पाँच ही रुपये हैं, परन्तु इच्छा लाख रुपये की है और इच्छा का यह रूप ही है, जब तक लाख रुपये नहीं हैं तब तक लाख रुपयों की चाह रहती ही है। इसलिए ऐसा करना वर्त्तमान में तृष्णा को रोकना नहीं है, किन्तु यही कहा जावेगा, कि वर्तमान में तो तृष्णा बढ़ी हुई है, परन्तु तृष्णा को सीमित करने का इच्छुक अवश्य है। इस प्रकार का व्रत, विशेष प्रशन्सनीय और प्रशस्त नहीं कहा जा सकता। प्रशन्सनीय और प्रशस्त तो वही व्रत है, जिसमें इच्छा को इतना सीमित किया जावे, जिससे अधिक सीमित करने पर गार्हस्थ्य जीवन निभ ही नहीं सकता।

इस व्रत के लिए, प्रत्येक पदार्थ की मर्यादा करना और जहां तक हो सके मर्यादा की सीमा बहुत संकुचित रखना। हो

सके तो जो पदार्थ पास हैं, उनमें से भी कुछ त्याग कर फिर मर्यादा करना। यदि ऐसा न हो सके, तो जो पदार्थ पास हैं उनसे अधिक की मर्यादा न करना। पास तो बहुत कम है और मर्यादा बहुत अधिक की करें, यह ठीक नहीं है। इस विषय में, आनन्दादि श्रावक का व्रत स्वीकार करना, आदर्श स्वरूप है। आनद श्रावक ने उतनी ही सम्पत्ति की मर्यादा की थी, जितनी उसके पास थी। उससे अधिक की मर्यादा नहीं की थी।

इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने से, इहलौकिक और पार-लौकिक अनेक लाभ हैं। इच्छा या तृष्णा ऐसी है, कि जिसका कभी अन्त नहीं आता। जैसे आग में घी डालने से आग और प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार पदार्थों के मिलने से इच्छा और बढ़ती ही जाती है, कम नहीं होती। इस प्रकार की बढ़ी हुई इच्छा के कारण, मनुष्य का जीवन भारभूत एवं कष्टप्रद बन जाता है। ऐसा आदमी न तो शान्ति से खा पी या सो सकता है, न ईश्वर-भजनादि आत्म-कल्याण के कार्य ही कर सकता है। उसको प्रत्येक समय अपनी बढ़ी हुई इच्छा की पूर्ति की ही चिन्ता रहती है। कोई भी समय ऐसा नहीं होता, कि जिसमें उनको शान्ति मिले। उसके पास कितनी भी सम्पत्ति हो जावे, उसको ससार के समस्त पदार्थ भी मिल जावे, तब भी अशान्ति बनी ही रहती है। इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार कर लेने पर, इस प्रकार की

अशान्ति मिट जाती है और गार्हस्थ्य जीवन महान दुःखमय नहीं रहता। अपितु सुखमय हो जाता है।

परिग्रह, समस्त दुःख और जन्ममरण का कारण है। उन दुःखों से बचने और जन्ममरण से छूटनें के लिए ही, अपरिग्रह व्रत या परिग्रह-परिमाण व्रत स्वीकार किया जाता है। अपरिग्रह व्रत का पालन करने वाला जन्म-मरण से प्रायः सर्वथा छूट जाता है वह न तो फिर जन्मता ही है न मरता ही है, और न उसे किसी प्रकार का कष्ट ही होता है यदि उसने अपनी इच्छा का सर्वथा निरोध कर लिया है, और पूर्व कर्मक्षय कर दिये तब तो उसी भव में मुक्त हो जाता है, अन्यथा एक या दो भव में मुक्त हो जाता है। जो परिग्रह का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, फिर भी यदि उसने किसी अन्श में परिग्रह का त्याग किया है और इच्छा को कम कर लिया है, तो उतने अन्श में वह भी कष्ट से छुट जाता है, नीच गती में जन्म लेने सें बच जाता है, तथा मोक्ष-मार्ग का पथिक हो जाता है। जिसने परिग्रह का परिणाम कर लिया है, सांसारिक पदार्थों को सर्वथा न त्याग सकने पर भी उनमें लिप्त नहीं रहता, किन्तु जल में कमल की तरह अलिप्त रहता है, वह कभी-कभी तो भाव चारित्र पाकर उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है, और कभी-कभी सात आठ भव के अन्तर से मुक्त होता है। उसको अव्रत की क्रिया नहीं लगती, इस कारण वह

नरक तिर्यक गति में नहीं जाता। पास में चाहे कम हो या अधिक हो, मोक्ष जाने न जाने का कारण यह नहीं हो सकता। पास कम है इसलिए मोक्ष जल्दी होगा या पास ज्यादा है इसलिए मोक्ष नहीं होगा या देर से होगा, यह बात नहीं है। इसके लिए भगवान ऋषभदेव के समय की एक कथा प्रसिद्ध है। जो इस प्रकार है—

भगवान ऋषभदेव, समवशरण में विराजमान थे। द्वादश प्रकार की परिषद्, भगवान का उपदेश श्रवण कर रही थी। भगवान ने अपने उपदेश में यह कहा, कि महारम्भी और महापरिग्रही की अपेक्षा, अल्पारम्भी और अल्पपरिग्रही शीघ्र मोक्ष जाता है। भगवान का यह उपदेश एक सुनार ने भी सुना। उसने सोचा, कि मेरे पास बहुत थोड़ी सम्पत्ति है, और मैं आरम्भ भी बहुत कम करता हूँ। दूसरी ओर भरत चक्रवर्ती के पास छः खण्ड पृथ्वी का राज्य है, चौदह रत्न हैं, और अनेक प्रकार की सम्पत्ति है; इसलिए ये महापरिग्रही हैं और राजकार्यादि में आरम्भ भी बहुत होता है। इस प्रकार भरत चक्रवर्ती की अपेक्षा मैं अल्पारम्भी अल्प परिग्रही हूँ, तथा मेरी अपेक्षा भरत चक्रवर्त्ती महारम्भी महापरिग्रही हैं। इसलिए भरत चक्रवर्त्ती से पहले मैं ही मुक्त होऊँगा।

सुनार ने अपने मन में इस प्रकार सोचा। फिर उसने विचार

किया, कि इस विषय में भगवान से ही क्यों न पूछूँ ! देखें भगवान क्या कहते हैं। इस प्रकार विचार कर सुनार ने, अवसर पाकर भगवान से प्रश्न किया, कि—प्रभो, पहले मेरा मोक्ष होगा, अथवा भरत चक्रवर्ती का मोक्ष होगा ? त्रिकालज्ञ भगवान ने सुनार के प्रश्न के उत्तर में कहा, कि—पहले भरत चक्रवर्ती को मोक्ष होगा। भगवान का उत्तर सुनकर सुनार ने कहा, कि— यह तो आपने पक्षपात की बात कही। आपने उपदेश में तो यह कहा था, कि अल्पारम्भी अल्पपरिग्रही को पहले मोक्ष होगा, और अब आप ऐसा कह रहे हैं ? भरत चक्रवर्ती महान् परिग्रही हैं, और इस प्रकार महारम्भी है तथा मैं इस-इस प्रकार अल्पारम्भी अल्प परिग्रही हूँ। फिर भी, भरत आपके पुत्र हैं इसलिए आपने उनका मोक्ष पहले बताया, यह पक्षपात नहीं तो क्या है ?

सुनार की बात के उत्तर में भगवान ने कहा, कि—तुम इस विषय में, स्थूल दृष्टि से जो कुछ दिखता है उसी पर विचार कर रहे हो, लेकिन स्थूल दृष्टि से वास्तविकता को नहीं देख सकते। मैंने जो कुछ कहा है, वह ज्ञान में देखकर कहा है। वास्तव में भरत महारम्भी महापरिग्रही नहीं किन्तु तुम हो।

भगवान का कथन, सुनार की समझ में नहीं आया। उस समय वहाँ भरत चक्रवर्ती भी मौजूद थे। भरत ने भगवान से

प्रार्थना की, कि--प्रभो, इसको मैं समझा दूंगा। यह कह कर भरत चक्रवर्ती उस सुनार को अपने साथ ले गये। उनने तेल से भरा हुआ एक कटोरा सुनार को देकर उससे कहा, कि--इस तेल से भरे हुए कटोरे को लेकर सारे नगर घूम आओ, लेकिन याद रखो, अगर इस कटोरे में से तेल की एक भी बूँद नीचे गिरी, तो तुम्हारी गर्दन उड़ा दी जावेगी। यह कह कर और तेल का कटोरा देकर, भरत चक्रवर्ती ने सुनार को विदा किया। उन्होंने सुनार के साथ एक दो सिपाही भी लगा दिये।

तेल का कटोरा लेकर सुनार, नगर के बाजारों में घुमने लगा। उसके साथ भरत चक्रवर्ती के सिपाही लगे ही हुए थे। नगर के सब बाजारों मे घूम कर सुनार, तेल का कटोरा लिये हुए भरत चक्रवर्ती के पास आया। भरत ने उससे पूछा, कि--तुम नगर के सब बाजारों में घूम आये?

सुनार—हाँ महाराज, घूम आया।

भरत—इस कटोरे में से तेल तो नहीं गिरने दिया था!

सुनार—तेल कैसे गिरने देता! तेल गिरता तो आपके ये सिपाही वहीं गर्दन उड़ा देते, आप तक आने ही क्यों देते!

भरत—अच्छा यह बताओ, कि तुमने नगर के बाजारों में क्या २ देखा।

सुनार—मैंने तो कुछ भी नहीं देखा।

भरत सब बाजारों में घूम कर आ रहे हो, फिर भी तुमने कुछ न देखा।

सुनार—हाँ महाराज, मैंने तो कुछ भी नहीं देखा।

भरत—क्यों ?

सुनार—देखता कैसे ? मेरी दृष्टि तो इस कटोरे पर थी। मुझे भय था कि कहीं तेल न गिर जावे, नहीं तो साथ का सिपाही मेरी गर्दन उड़ा देगा। इस भय के कारण मेरी दृष्टि कटोरे पर ही रही, बाजार में क्या होता है, या क्या है इस ओर मैंने ध्यान भी नहीं दिया।

भरत—बस यही बात मेरे लिए समझो। यह समस्त ऋद्धि सम्पदा—जिसे तुम मेरी समझ रहे हो—एक बाजार के समान है। मैं इस बाजार में विचरता हूँ, फिर भी मैं इसको अपनी नहीं मानता, न इसकी ओर ध्यान ही देता हूँ। क्यों कि, जिस तरह तुमको सिपाही द्वारा गरदन उड़ाई जाने का भय था इसलिए

तुम्हारा ध्यान कटोरे पर ही था, बाजार की ओर तुमने नहीं देखा उसी प्रकार मुझे भी परलोक का भय लगा हुवा है, इसलिए मैं भी ऋद्धि–सम्पदा में रंचा पचा नहीं रहता हूँ, ऋद्धि-सम्पदा की ओर ध्यान नहीं देता हूँ, किन्तु जिस तरह तुम्हारा ध्यान कटोरे पर था, उसी प्रकार मेरा ध्यान भी मोक्ष की ओर है। इस कारण मैं चक्रवर्ती होता हुवा भी, भगवान के कथानुसार तुमसे पहले मोक्ष जाऊँगा। इसके विरुद्ध तुम्हारे पास ऐसी सम्पत्ति नहीं है, लेकिन तुम्हारी लालसा बढ़ी हुई है। जिसकी लालसा बढी हुई है, वही महारम्भी महापरिग्रही है; फिर चाहे उसके पास कुछ हो अथवा न हो या बहुत थोड़ा हो। और जिसके पास बहुत सम्पत्ति है, फिर भी यदि वह उस सम्पत्ति में मूर्छित नहीं रहता है, उसकी लालसा बढ़ी हुई नहीं है किन्तु सांसारिक पदार्थों में रहता हुवा भी जल में कमल की तरह उनसे अलग रहता है, तो वह अल्पारम्भी अल्प परिग्रही है। इसीलिए भगवान ने तुम्हारे लिए मोक्ष न बता कर, पहले मेरे लिए मोक्ष बताया।

भरत चक्रवर्ती के इस कथन से, सुनार समझ गया। उसने जाकर भगवान से क्षमा माँगी, और इस प्रकार वह पवित्र हुवा।

मतलब यह, कि मोक्ष प्राप्ति अप्राप्ति का कारण सांसारिक पदार्थों का पास होना न होना नहीं है किन्तु ममत्व का होना न

होना ही मोक्ष प्राप्त न होने या होने का कारण है। इसलिए चाहे परिग्रह का सर्वथा त्याग न हो केवल इच्छापरिमाण व्रत ही लिया गया हो, फिर भी यदि शेष परिग्रह से जल में कमल की तरह अलिप्त रहता है, तो वह उसी भव मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। इस के विरुद्ध चाहे अपरिग्रह व्रत स्वीकार भी किया हो लेकिन इच्छा-मूर्छा बढ़ी हुई हो, इच्छा-मूर्छा न मिटी हो, तो वह संसार में पुनः पुनः जन्म–मरण करता है और नरक तिर्यक् गति में भी जाता है।

इच्छा के विषय में पहले यह बताया जा चुका है, कि इच्छा अनन्त है इच्छा का अन्त नहीं है। जिसमें ऐसी इच्छा विद्यमान है, उसके परिग्रह का भी अन्त नहीं है। ऐसा व्यक्ति, महान परिग्रह है। उसे महान् परिग्रह की ही क्रिया लगती है। उसके पास परिग्रह सम्बन्धी पूर्ण पाप विद्यामान है। इच्छा परिमाण व्रत द्वारा, ऐसे महान् परिग्रह से निकला जाता है। जब इच्छा की सीमा कर दी गई, उसका अन्त मालूम हो गया, तब महान् परिग्रह भी नहीं रहा। फिर तो जितने अन्श में इच्छा शेष है, उतने ही अंश में परिग्रह भी शेष रहा है और शेष अंश से परे के परिग्रह से निवृत हो जाता है। इस कारण फिर परिग्रह की पूर्ण क्रिया नहीं लगती, किन्तु जितने अंश में परिग्रह रहा है, उसी क्रीया

जगती है। इच्छा की सीमा हो जाने पर महान् परिग्रह नहीं रहता, किन्तु सीमित अर्थात् अल्प परिग्रह ही रहता है।

इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाला, अप्राप्त वस्तु के लिए चिन्ता नहीं करता, न इस कारण उसे दुखः ही होता है। चाहे उसके जानने में नूतन से नूतन पदार्थ आवें, फिर भी वह उन पदार्थों की इच्छा नहीं करता, उनको प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करता, न उनके मिलने पर दु:ख ही करता है। यदि व्रत में रखी हुई मर्यादा के बाहर का कोई पदार्थ उसे बिना इच्छा या श्रम के भी प्राप्त होता हो, तो उसको भी वह स्वीकार नहीं करता इस प्रकार वह, किसी वस्तु की इच्छा से दु:खी नहीं रहता, किन्तु इस ओर से सर्वथा दु:खरहित हो जाता है। साथ ही यह व्रत स्वीकार करने वाला व्यक्ति त्याग से बचे हुए पदार्थों के प्रति ऐसा ममत्वभाव नहीं रखता, कि जिसके कारण उन पदार्थों के छूटने पर दु:ख हो। वह सांसारिक पदार्थों का आधार उसी प्रकार लेता है, जिस प्रकार पक्षी वृक्ष का सहारा लेता है। वृक्ष का सहारा बन्दर भी लेता है, और पक्षी भी लेता है, लेकिन दोनों के सहारा लेने में अन्तर होता है। वृक्ष पर बैठा होने पर भी पक्षी, वृक्ष के ही सहारे नहीं रहता, किन्तु अपने पखों के सहारे रहता है; परन्तु बन्दर के लिए—यदि वह वृक्ष पर बैठा हो—वृक्ष ही आधार है। इस कारण वृक्ष के गिरने पर पक्षी को कष्ट नहीं हो

सकता, वह अपने पंखों की सहायता से उड़ जावेगा, लेकिन बन्दर उसी वृक्ष के नीचे दब सकता है।

इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाले और न करने वाले में भी, ऐसा ही अन्तर होता है। इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाला, सांसारिक पदार्थों से ऐसा ममत्व नहीं करता, उनको इस प्रकार सहारा नहीं लेता, जैसा सहारा बन्दर वृक्ष का लेता है। सांसारिक पदार्थों के छूटने पर, उसे किंचित् भी दुःख नहीं होता। वह सांसारिक पदार्थों का उपयोग उसी तरह करता है, जिस प्रकार पक्षी वृक्ष का उपयोग करता है।

इस व्रत को न अपनाने पर, अप्राप्त वस्तु के कारण भी दुःख होता है, और प्राप्त वस्तु के कारण भी। अप्राप्त वस्तु के लिए वह सदा झुरता रहता, है, चिन्तित तथा दुःखी रहता है, और प्राप्त वस्तु की रक्षा के लिये चिन्तित एवं भयभीत रहता है। इस बात का भय बना ही रहता है, कि यह वस्तु मुझ से कोई छीन न ले, या छुट न जावे। परिग्रह परिमाण व्रत स्वीकार करने पर इस प्रकार की अधिकान्स चिन्ता तथा अधिकान्स दुःख मिट जाता है। वह व्यक्ति, वस्तु की रक्षा की ओर से चिन्तित भी नहीं रहता, तथा वस्तु के जाने से दुःखी भी नहीं होता वह मानता है, कि वस्तु का वह स्वभाव ही है। जब तक मेरे पुण्य

का जोर है, तभी तक वस्तु मेरे पास रह सकती है, उस दशा में इसे कोई नहीं ले जा सकता और पुण्य का जोर हटने पर वस्तु मेरे पास नहीं रह सकती। चाहे मैं लाखों प्रयत्न या दुःख करूँ समय आने पर वस्तु चली ही जाती है। फिर मैं चिन्ता या दुःख क्यों करूँ!

इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाले को मरण के समय भी दुःख नहीं होता। इच्छा का परिमाण न करनेवाले महा परिग्रही को मरण समय में भी घोर कष्ट होता है। 'हाय! मेरी प्रिय सम्पत्ति आज छूट रही है' इस दुःख के कारण उसके प्राण शान्ति से नहीं निकलते, किन्तु बड़े कष्ट से निकलते हैं। जिसने भारत को बड़ी बुरी तरह लूटा था, वह महमूद गजनवी जब मरने लगा, तब उसने अपनी सारी सम्पत्ति अपने सामने मँगवाई, और उस सम्पत्ति को देख देख कर वह रोने लगा। उसके रोने का वास्तविक कारण क्या था, यह निश्चय पूर्वक तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु हो सकता है, कि वह सम्पत्ति छूटने के दुःख से रोया हो। महापरिग्रही को ऐसा दुःख होता ही है। उसे, मरते समय आर्त रौद्र ध्यान होता है, जो दुर्गति का कारण है। इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाला, इससे बचा रहता है।

जिसकी इच्छा बढ़ी हुई रहती है, वह सदैव लोभ-ग्रस्त रहता

है। स्वप के पास जो कुछ है, स्वयं को जो कुछ प्राप्त है, उस पर उसे सन्तोष ही नहीं होता। लोभवश वह पास की वस्तु भी खेता है, जिससे उसका दुःख और बढ़ जाता है। जैसे, रावण को अपनी स्त्री से सन्तोष नहीं हुआ। उसने, दूसरे की स्त्री को भी अपनी बनाना चाहा। परिणामतः दूसरे की स्त्री तो उसकी नहीं हुई लेकिन इस प्रयत्न के कारण वह स्वयं की स्त्री का भी स्वामी नहीं रहा। दुर्योधन ने दूसरे की सम्पत्ति को, जुए के खेल द्वारा अपनी बनाना चाहा था। परिणामतः उसकी स्वयं की सम्पत्ति भी चली गई। इसी प्रकार और भी बहुत से लोग, लोभ में पड़ कर पास की भी चीज खो देते हैं। इस विषय में एक कहानी भी है, जो इस प्रकार है—

एक कुत्ता, मुँह में रोटी का टुकड़ा दबाये हुए नदी के पार जा रहा था। नदी के पानी में उसने अपनी परछाई देखी। कुत्ते ने समझा, कि दूसरा कुत्ता मुँह में रोटी लिये जा रहा है। उसने, उस परछाई के कुत्ते से रोटी छीनने का विचार किया और इसके लिए स्वयं का मुँह फाड़ कर वह परछाई के कुत्ते की ओर झपका लेकिन जैसे ही उसने रोटी छीनने के लिए मुँह फाड़ा, वैसे ही उसके मुंह की रोटी पानी में गिर कर बह गई। इस प्रकार लोभ-वश उसने, पास की भी रोटी खो दी।

कुत्ता तो पशु है, इसलिए उससे ऐसा होना आश्चर्य की बात नहीं है, परन्तु बहुत से लोभी मनुष्य भी ऐसा ही करते हैं वे भी, लोभवश समीप का धन जुए सट्टे आदि में लगा देते हैं और इस विचार से प्रसन्न होते हैं, कि दूसरे का धन छिन कर हमारे पास आ जावेगा। लेकिन इस प्रयत्न में वे, अपना धन भी खो देते हैं, और फिर दुःखी होते हैं। जिसने अपनी इच्छा को सीमित कर लिया है, उसको इस प्रकार लोभ नहीं होता, इस कारण उसे पास का धन खोकर दुःखी नहीं होना पड़ता।

श्रावक के लिए परिग्रह परिमाण व्रत स्वीकार करना आवश्यक है। वह जब तक अपनी इच्छा को सीमित नहीं कर लेता, तब तक निग्रन्थ प्रवचन को अपने में नहीं रुचा सकता। जो महारम्भी और महापरिग्रही है, उस में निग्रन्थ धर्म का लेश भी नहीं हो सकता। निग्रन्थ धर्म का पात्र बनने के लिए, इच्छापरिमाण व्रत स्वीकार करना आवश्यक है।

इच्छा परिमाण-व्रत स्वीकार कर लेने पर, धर्म-कार्य में भी मन लगता है। मन में वैसी चंचलता और अस्थिरता नहीं रहती, जैसी चंचलता और अस्थिरता अनन्त इच्छा वाले में रहती है। जिसने अपनी इच्छा को जितना अधिक संकोच किया है, उसका

मन धर्म—कार्य में उतना ही अधिक लगता है। वह निष्काम भाव से धर्म-कार्य करता है, धर्म-कार्य के बदले में कुछ चाहता नहीं है। इसके लिए पूनिया श्रावक की कथा प्रसिद्ध ही है, जो केवल बारह आने की पूँजी से व्यापार व्यवसाय करता था, और जिसकी सामायिक प्रशन्सा स्वय भगवान महावीर ने की थी।

संसार के पदार्थ, पुन्य के प्रताप से प्राप्त होते हैं। पूर्व-पुन्य के प्रभाव से ही इस जन्म में अनुकूल सांसारिक पदार्थ मिलते हैं। शास्त्र में कहा है, कि चार अंग के आराधक को दस बोल की योगवाई मिलती है। सुबाहुकुमार के चरित्र से भी यही प्रकट है, कि पूर्व—पुन्य के प्रताप से ही दस बोल में बताये गये सांसारिक पदार्थ प्राप्त होते हैं। इस प्रकार ससार के अनुकूल पदार्थों का प्राप्त होना, पूर्व—पुन्य का ही प्रताप है, लेकिन पूर्व—पुन्य से प्राप्त सांसारिक पदार्थ भी, इच्छा मूर्छा के कारण पाप रूप हो जाते हैं। वह पुन्य भी, पापानुबन्धी हो जाता है। इच्छा परिमाण—व्रत स्वीकार द्वारा, उस पुन्य—कमाई से पाप नहीं होने दिया जाता। इच्छा मूर्छा की सीमा कर देने से, सांसारिक पदार्थ उस प्रकार पाप के कारण नहीं रहते, जिस प्रकार सीमा न करने पर रहते हैं।

इच्छा का परिमाण करके भी, यथाशक्ति उन पदार्थों से निर्म-

मत्व ही रहना चाहिये, जो पदार्थ मर्यादा में रखे गये हैं । मर्यादा में रखे गये पदार्थों में, गृद्धि न होनी चाहिये । यदि मर्यादा में रहे हुए पदार्थों में गृद्धि न रही, उनसे निर्ममत्व रहे, तो पदार्थों का सर्वथा त्याग न कर सकने पर भी, वह व्यक्ति एक प्रकार से अपरिग्रही के समान ही माना जायेगा और उसको बहुत अन्श में लाभ भी वैसा ही होगा। जैसे भरत चक्रवर्ती छः खण्ड पृथ्वी के स्वामी थे, लेकिन वे उस राज्य-सम्पदा के प्रति निर्ममत्व रहते थे, इस कारण उन्हें कांच—महल में ही केवलज्ञान हो गया । नेमीराज के पास समस्त राज्य—सम्पदा विद्यमान थी और वे राज्य भी करते थे, फिर भी 'राजर्षि' कहे जाते थे। इसका कारण यही था, कि वे राज्य में मूर्छित नहीं रहते थे । नेमीराज की ही तरह राजा जनक के विषय में भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है, कि उनके पास शुकदेवजी ज्ञान सीखने के लिए गये। उन्होंने, जनक के द्वार पर जाकर, अपने आने की सूचना जनक के पास भेजी, जिसके उत्तर में राजा ने, उन्हें द्वार पर ही ठहरे रहने का कहलाया। शुकदेवजी, तीन दिन तक जनक के द्वार पर ही ठहरे रहे । चौथे दिन जनक ने उन्हें अपने पास बुलाया । राजा जनक के सन्मुख जाकर शुकदेवजी ने देखा, कि राजा अच्छे सिंहासन पर बैठा है और उस पर चँवर छत्र हो रहा है । शुकदेवजी सोचने लगे, कि पिता ने मुझे इसके पास क्या ज्ञान सीखने भेजा है !

यह माया में फँसा हुआ, मुझ को क्या ज्ञान देगा ! शुकदेवजी इस प्रकार सोच ही रहे थे, इतने ही में राजा के पास खबर आई, कि नगर में आग लग गई है, और नगर जल रहा है। फिर खबर आई कि आग महल तक आ गई है। तीसरी बार खबर आई, कि आग ने महल का द्वार घेर लिया है। राजा जनक, इन सब खबरों को सुनकर किंचित् भी नहीं घबराये, किन्तु वैसे ही प्रसन्न बने रहे; लेकिन शुकदेवजी चिन्तित हो गये। राजा ने उनसे पूछा, कि—नगर या महल में आग लगने से आपको चिन्ता क्यों हो गई ? शुकदेवजी ने उत्तर दिया, कि—मेरा दन्ड और कमन्डल द्वार पर ही रखा है; मुझे उन्हीं की चिन्ता है, कि कहीं वे न जल जावें। राजा ने उत्तर दिया, कि मुझको नगर या महल के जलने की भी चिन्ता नहीं है, न दुःख ही है, और आपको दन्ड कमन्डल की ही चिन्ता हो गई ! इस अन्तर का क्या कारण है ? यही, कि मैं राज्य करता हुआ और नगर तथा महल में रहता हुआ भी इनसे निर्ममत्व रहता हूँ, इनको अपना नहीं मानता, और आप दन्ड कमन्डल को अपना मानते हैं। आपको आपके पिता ने मेरे पास यही ज्ञान लेने के लिये भेजा है, कि जिस प्रकार मैं निर्ममत्व रहता हूँ, उसी प्रकार निर्ममत्व रहो। संसार के किसी भी पदार्थ को अपना मत समझो, न किसी पदार्थ से अपना स्थायी सम्बन्ध मानो, किन्तु यह मानो, कि आत्मा अजर अमर तथा अविनाशी

है और संसार के समस्त पदार्थ हैं नाशवान। इस लिए आत्मा का, सांसारिक पदार्थों से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है।

शास्त्र में, नेमीराज विषयक वर्णन भी ऐसा ही है. नेमीराज को जब संसार की असारता का ज्ञान हो गया था और वे विरक्त हो गये थे, उस समय उनकी परीक्षा करने के लिए इन्द्र ने ब्राह्मण का वेश बना कर उनसे कहा था, कि वह देखो तुम्हारी मिथिला-नगरी जल रही है। तब नेमीराज ने उत्तर दिया था—

सुहं वसामो जीवामो जेसिं मो नत्थि किंचणं।
महिलाए उज्झमाणीए न मे डज्झई किंचणं॥

अर्थात्—मैं सुख से रहता हूँ और सुखपूर्वक ही जीवित हूँ; महल और मिथिला नगरी से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। मिथिला नगरी के जलने से, मेरा कुछ भी नहीं जलता है।

तात्पर्य यह, कि मर्यादा में रहे हुए पदार्थों से भी ममत्व न करना, किन्तु निर्ममत्व रहना। उनकी प्राप्ति से प्रसन्न न होना, न उनके वियोग से दुःख करना।

निर्ममत्व रहने के साथ ही, कृपण भी न रहना। चाहे कृपण हो या उदार, सांसारिक पदार्थ निश्चय ही छूटते हैं; लेकिन उस समय में जैसा दुःख कृपण को होता है, वैसा उदार को नहीं होता। कहावत है कि—

दान भोग अरु नाश, होत तीन गति द्रव्य की।
जहाँ न द्वै को वास, वास तीसरो बसत तहँ ॥

धनादि सांसारिक पदार्थों के जाने के तीन मार्ग हैं। पहला मार्ग 'दान' है। जो धन दान से नहीं जाता, वह दूसरे मार्ग 'भोग' से जाता है। खाने खिलाने पहनने ओढने आदि में जाता है। तीसरा मार्ग 'नाश' है। जो धन, दान और भोग दोनों ही में नहीं लगाता, वह नष्ट हो जाता है। चोर ले जाते हैं, आग में जल जाता है, राजा छीन लेता है, अथवा कहीं नुकसान हो जाता है। तात्पर्य यह, कि जिस समय जिसका वियोग होता है, उस समय उसका वियोग अवश्य होगा, लेकिन वियोग होता है उक्त तीन मार्ग से ही। इन तीनों मार्ग में से, प्रथम के दो मार्ग से उदार का धन जाता है और तीसरे मार्ग से कृपण का धन जाता है। प्रथम के दो मार्ग में से प्रथम मार्ग प्रशस्त एवं प्रशन्सनीय है और दूसरा मार्ग अप्रशस्त एवं अप्रशन्सनीय है। फिर भी, दोनों मार्ग हैं उदारता के ही अन्तर्गत। कृपण वही है, जो धन को दान और भोग दोनों ही में नहीं लगाता है, किन्तु केवल संचित रखता है। न किसी को देता है, न स्वयं ही खाता खरचता है। इस कारण ऐसे व्यक्ति का धन तीसरे मार्ग से जाता है, यानी नष्ट हो जाता। धन के नष्ट होने पर उस कृपण को कैसा दुःख होता है, उसे किस तरह पश्चात्ताप करना पड़ता है,

इसके लिए राजा भोज के समय की एक उक्ति प्रसिद्ध है, जो इस प्रकार है—

राजा भोज, विद्वानों के साथ अपनी सभा में बैठा था। इतने ही में वहाँ शहद की एक मक्खी आई। वह मक्खी, अपने दोनों हाथ आपस में रगड़-रगड़ कर सिर से लगाती थी। राजा भोज ने सभा के लोगों से कहा, कि—यह मक्खी जैसे मेरे से कुछ कहती है, परन्तु क्या कहती है, यह समझ में नहीं आता। यहां बैठे हुए लोगों में से क्या कोई यह बता सकता है, कि यह मक्खी क्या कहती है?

भोज का यह प्रश्न सुनकर भी, सब लोग चुप ही रहे। सभी विचारने लगे, कि इस प्रश्न का क्या उत्तर दिया जावे। सब को चुप देख कर राजा भोज ने कालीदास से कहा, कि—क्या तुम भी नहीं बता सकते, कि यह मक्खी क्या कह रही है? कालिदास ने उत्तर दिया, कि यह मक्खी जो कुछ कहती है, वह मुझे मालूम है। यह मक्खी मेरे से मिलकर और सब बात कह कर, फिर आपके पास आई है। बल्कि मैंने ही इससे कहा, कि तू मेरे से जो कुछ कह रही है, वह राजा से ही कह।

कालिदास का कथन सुनकर भोज ने कालिदास से पूछा, कि—यह मक्खी क्या कह रही है? कालिदास ने कहा—महाराज यह मक्खी कहती है, कि—

देयं भोज्य धनं धनं सुकृतिभिर्नो संचितं सर्वदा
श्रीकर्णस्य बलेश्च विक्रमपतेरद्यापि कीर्तिस्थिता।
आश्चर्यं मधु दान भोग रहितं नष्टं चिरातसंचितं
निर्वेदादिति पाणिपाद युगलं घर्षन्त्यहो मक्षिकाः ॥

अर्थात्—हे राजा भोज, तेरे पास जो धन है, वह दे, दान कर सुकृत में लगा। आज कर्णबली और विक्रम राजा नहीं हैं, लेकिन दान के कारण आज भी उनकी कीर्ति बनी हुई है। यदि वे दान नहीं करते, किन्तु धन को संचित ही रखते, तो उनकी कीर्ति न होती। इसलिए तू भी दान कर। यदि तू देगा नहीं, किन्तु संचित ही रखेगा, तो जो बात हम पर बीती है, वही तेरे पर भी बीतेगी। हमने भी मधु (शहद) संग्रह किया था। उसे न तो स्वय हमने ही खाया था, न उसमें से कभी किसी को दिया ही था। केवल संग्रह ही रखा था। परिणाम यह हुआ, कि लूटने वाले आये और हमारा सब शहद लूट गये। इस प्रकार न देने पर जैसे हमारा शहद नष्ट हो गया, उसी तरह तेरा धन भी नष्ट हो जावेगा और फिर जैसे हम हाथ मल कर तथा सिर से लगा कर पश्चाताप करती है, उसी तरह तुझे भी पश्चाताप करना होगा।

यह कह कर कालिदास भोज से कहने लगा, कि—महाराज, यह मक्खी यही बात कर रही है। आप तो दानी हैं इसलिए,

आप से यह बात कहने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन आप से कही गई बात के द्वारा दूसरों का हित होगा, यह सोच कर ही मक्खी ने आप से ऐसा कहा है।

कालिदास का कथन सुन कर, भोज उसकी बुद्धिमानी पर प्रसन्न हुआ।

तात्पर्य यह, कि मर्यादा में रखी गई वस्तुओं के प्रति भी कृपणता का भाव न रखना, किन्तु उदारता का भाव रखना। कृपणता से वस्तु के प्रति अधिक ममत्व होगा, और उदारता से ममत्व कम होगा।

श्रावक अपने व्रत की मर्यादा में जो द्रव्य शेष रखता है, उसे केवल अपने ही सुख के लिए नहीं समझता। उसे अपना ही नहीं मान बैठता। यह नहीं करता, कि दूसरे आदमी चाहें उस वस्तु के लिए कष्ट पाते रहें और श्रावक उस वस्तु को दबाये बैठा रहे। श्रावक अपनी मर्यादा में जो धन धान्यादि रखता है, उससे स्वयं भी सांसारिक कार्य चलाता है और दूसरों की भी सहायता करता है। उसके पास जो धन-धान्य होता है, उसे वह आवश्यकता के समय जनता के हित में व्यय कर देता है। दुष्कालादि के समय, उसके द्वारा लोगों की रक्षा करता है। लोगों की सहायता करता है।

जो धन मर्यादा में रखा है, उसे पकड़ कर बैठ जाना व्यावहारिक दृष्टि से भी अनुचित है। अर्थात उसे जमीन में गाड़ देना,

या तिजोरी में बन्द करके रख छोड़ना, ठीक नहीं। जब सम्पत्ति एक या कई जगह केन्द्रित होकर रुक जाती है, व्यवहार में नहीं आती, तब साधारण जनता को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इसलिए 'यह सम्पत्ति तो हमारी मर्यादा में ही है' ऐसा समझ कर, सम्पत्ति को व्यवहार से वंचित रखना, जनता को कष्ट में डालना है। भारत में गेंद के खेल की जो प्रथा है, उससे एक शिक्षा भी मिलती है। गेंद होता तो है किसी एक व्यक्ति का ही, परन्तु उसे खेलते अनेक आदमी हैं अनेक आदमी मिल कर, परस्पर उसका आदान प्रदान करते हैं। कोई एक आदमी गेंद को लेकर नहीं बैठ जाता, और यदि कोई ऐसा करे, तो उसके साथी गण उसे दण्ड देने तथा उससे गेंद छीनने का प्रयत्न करते हैं। गेंद के इस खेल से, धन धान्यादि सम्पत्ति के विषय में भी यह शिक्षा मिलती है, कि इन सब को अपना ही न मान बैठो, किन्तु जैसे गेंद से अनेकों को खेलने का लाभ दिया जाता है, उसी तरह सम्पत्ति का लाभ भी सब को दो। फिर चाहे वह सम्पत्ति तुम्हारे ही अधिकार की क्यों न हो, लेकिन उसे पकड़ कर मत बैठ जाओ। यदि तुम सम्पत्ति को अपनी ही मान कर दबा बैठोगे, तो लोग तुम से वह सम्पत्ति छीनने का प्रयत्न करेंगे, तथा तुम्हारे पास न रहने देंगे। और यदि गेंद की तरह सम्पत्ति का भी आदान प्रदान करते रहोगे, तो जिस प्रकार फेंका हुआ गेंद लौट कर फेंकनेवाले के ही पास आता है, उसी तरह

दूसरे को देते रहने पर—यानी त्याग करने पर—सम्पत्ति भी लौट-लौट कर त्यागनेवाले के ही पास आवेगी। सम्पत्ति के लिए झगड़ा भी तभी होता है, जब कोई उसे अपनी मान कर पकड़ बैठता है। जहाँ किसी वस्तु को अपनी नहीं माना जाता, वहाँ किसी प्रकार का झगड़ा भी नहीं होता।

जिस तरह मर्यादा में रखी हुई प्राप्त वस्तु के प्रति लुपखता अथवा ममत्व न रखना, उसी तरह मर्यादा में रखी हुई अप्राप्त वस्तु की कामना भी न करना; किन्तु निष्काम रहना। कामना से वस्तु प्राप्त भी नहीं होती और, यदि प्राप्त हुई भी, तो उससे आध्यात्मिक तथा मानसिक हानि होती है। वस्तु की कमी वहीं है, जहाँ कामना है। जहाँ कामना नहीं है, वहाँ वस्तु की भी कमी नहीं है। कामना न होने पर वस्तु छाया की तरह पीछे दौड़ती है, और कामना होने पर दूर भागती है। जैसे कोई आदमी छाया को पकड़ने के लिए छाया की ओर दौड़े, तो छाया आगे को भागेगी; लेकिन यदि वह छाया को पकड़ने की इच्छा न करे, छाया की ओर पीठ दे दे, तो वह छाया उस आदमी के पीछे दौड़ेगी। इसी प्रकार वस्तु की चाह करके उसके प्रति उपेक्षा बुद्धि रखे, तो वस्तु दौड़ कर पास आवेगी, और यदि वस्तु की चाह करके उसके पीछे दौड़े, तो वस्तु दूर भागेगी। इसलिए मर्यादा में होने पर भी अप्राप्त वस्तु की कामना न करना, किन्तु निष्काम और मर्यादा पर स्थिर रहना। मर्यादा पर स्थिर रहने से,

समस्त सम्पत्ति स्वय ही दौड़ कर आवेगी । तुलसी-कृत रामायण में कहा है—

जिमि सरिता सागर महँ जाहि, यद्यपि तिन्हें कामना नाहीं ।
तिमि धनसम्पति बिनहिं बुलाये, धर्मशील पँह जाहिं सुभाये ॥

अर्थात्—जिस प्रकार समुद्र को जल की कामना न होने पर भी सब नदियाँ समुद्र में ही जाती हैं, उसी प्रकार धन-सम्पत्ति भी धर्मशील व्यक्ति के पास बिना बुलाये ही स्वभावतः जाती है ।

तात्पर्य यह, कि मर्यादा में रही हुई परन्तु अप्राप्त वस्तु की कामना न करना, न उसके लिए धर्म की सीमा का उल्लंघन ही करना ।

यह व्रत स्वीकार करनेवाला उन कार्यों को कभी नहीं करता, जिनका शास्त्र में निषेध किया गया है । शास्त्र में श्रावक के लिए वर्ज्य पन्द्रह कर्मादान में जो कार्य बताये गये हैं, इच्छापरिमाण व्रत स्वीकार करनेवाला उन कामों को नहीं करता । जिसने इच्छा की सीमा नहीं की है, वह कृत्याकृत्य का विचार नहीं रखता । उसका उद्देश्य तो केवल यह रहता है, कि मेरी इच्छानुसार पदार्थ मिले; फिर इसके लिए कुछ भी क्यों न करना पड़े । लेकिन जिसने इस व्रत को स्वीकार किया है, वह कृत्याकृत्य का ध्यान रखता है और अकृत्य कार्य कदापि नहीं करता ।

मतलब यह, कि यह व्रत स्वीकार करनेवाला अनेक अंश में सुखी तथा पाप से बचा हुआ रहता है और उसके द्वारा धर्म-कार्य एवं शुभ-कार्य भी होते हैं। अशुभ कार्यों से प्रायः वह अलग हो जाता है।

अपरिग्रह व्रत या इच्छापरिमाण व्रत का पालन वही कर सकता है, जो समस्त पदार्थों को तात्विक दृष्टि से देखता है, जिसने सादगी स्वीकार की है और लालसा को मिटा दिया है या कम कर दिया है। इच्छा परिमाण व्रत का पालन करने के लिए सादगी का होना आवश्यक है। जिसमें सादगी होगी, वही इच्छा-परिमाण-व्रत का पालन कर सकता है। सादगी न होने पर वस्तु की चाह होगी ही और इस कारण कभी न कभी व्रत भी भंग हो जावेगा। सादगी, अनशनादि तप से भी कठिन है। बहुत से लोग अनशन तप तो कर डालते हैं, लेकिन उनके लिए सादगी स्वीकार करना कठिन जान पड़ता है। परन्तु जब तक सादगी नहीं है, तब तक न तो अपरिग्रह व्रत का ही पालन हो सकता है, न परिग्रह-परिमाण व्रत का ही। इस व्रत का पालन तभी हो सकता है, जब अपनी आवश्यकताओं को बिलकुल घटा दिया जावे।

सादगी की ही तरह सरलता का होना भी आवश्यक है। जिसमें सरलता नहीं है, वह भी व्रत का पालन नहीं कर सकता।

ऐसा व्यक्ति, अपनी बुद्धि का उपयोग व्रत में गली निकालने में ही करता है। वह आदमी, व्रत में भी कपट चलाता है।

व्रत स्वीकार करके फिर उसमें कपट चलाने या गली निकालने से, व्रत का महत्व नष्ट हो जाता है। बहुत से लोग व्रत लेते समय यह सोचते हैं, कि हम जितनी मर्यादा कर रहे हैं, हमको उतना ही मिलना कठिन है, तो अधिक तो मिल ही कैसे सकता है! इस तरह सोच करके पहले ही—जो पास है उससे—बहुत अधिक की मर्यादा करते हैं, परन्तु योगायोग से जब मर्यादा इतना धन हो जाता है और उससे भी बढ़ने लगता है, तब व्रत में कपट चलाने लगते हैं। ऐसे लोग, उस समय अपनी बढ़ी हुई सम्पत्ति को सन्तान या स्त्री के नाम पर कर देते हैं, उनके विवाहादि खर्च खाते में अमानत कर लेते हैं और फिर भी यह समझते हैं, कि हमारे व्रत में कोई दूषण नहीं लगा है। लेकिन वस्तुतः ऐसा करना, व्रत में कपट चलाना और व्रत को भंग करना है। क्योंकि व्रत लेते समय इस प्रकार की मर्यादा नहीं की थी। सच्चा व्रतधारी, अपने व्रत से बाहर की कोई भी वस्तु अपने पास न रखेगा, फिर चाहे वह कैसी भी हो और किसी भी तरह से क्यों न मिलती हो। अरणक श्रावक को एक देव ने, मिट्टी के गोले में बन्द करके दो जोड़ कुण्डल दिये थे। यदि अरणक चाहता तो कह सकता था, कि ये कुण्डल तो देवप्रदत्त हैं, इसलिए व्रत मर्यादा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है, और ऐसा

कह कर वह कुण्डलों को रख सकता; लेकिन श्रावक व्रत स्वीकार करने का व्रत उद्देश्य और व्रत स्वीकार करते समय रखे गये अपने अधिकार की मर्यादा को अच्छी तरह जानता था, तथा उस पर दृढ था। उसका उल्लंघन नहीं करना चाहता था। इसलिए उसने उन कुण्डलों को अपने पास नहीं रखा, किन्तु दूसरों को दे दिया है। क्योंकि, उसने व्रत में देवप्रदत्त वस्तु लेने की मर्यादा नहीं रखी थी। इसी प्रकार जब स्त्री और बच्चों की सम्पत्ति अलग करने की मर्यादा नहीं रखी है, तब सम्पत्ति के बढ़ने पर बढ़ी हुई सम्पत्ति उनके नाम करके अपना व्रत सुरक्षित समझना, अथवा बढ़ी हुई सम्पत्ति को न त्यागने के लिए और कोई उपाय निकालना, यह व्रत में कपट चलाना तथा धर्म को भी ठगना है। आनन्द श्रावक ने भगवान के पास व्रत स्वीकार करते हुए यह मर्यादा की थी, कि मैं बारह क्रोड़ सोनैया चालिस हजार गायें और पांच सौ हल की भूमि से अधिक न रखूंगा। यह मर्यादा करके वह अकर्मण्य बन कर नहीं बैठा था, किन्तु चौदह वर्ष तक—जब तक कि उसने ग्यारह प्रतिमा स्वीकार नहीं की—बराबर व्यापार कृषि आदि में उद्योग करता रहा था। उसके चार क्रोड़ सोनैया व्यापार में लगे हुए थे, पांच सौ हल की खेती होती थी और चालीस हजार गायें थीं। इन तीनों द्वारा एक ही वर्ष में सम्पत्ति की अत्यधिक वृद्धि हो सकती थी, और हुई भी होगी, फिर भी यह उल्लेख कहीं नहीं मिलता, कि उसने वह बढ़ी हुई

सम्पत्ति स्त्री पुत्र को बता कर अपने पास ही रखली, अथवा स्त्री पुत्र को दे दी, अथवा अपनी सम्पत्ति का कोई भाग देकर स्त्री पुत्र को अलग कर दिया। यदि वह ऐसा करता, तो अवश्य ही उसका व्रत भग हो जाता। क्योंकि उसने अपने व्रत में इस प्रकार की मर्यादा नहीं रखी थी।

अब यह प्रश्न होता है, कि फिर वह अपनी बढ़ी हुई सम्पत्ति का क्या करता था? चालिस हजार गायों के बच्चे भी बहुत होते होंगे, पांच सौ हल से अन्नादि भी बहुत होता होगा, और चार क्रोड़ सौनैया के व्यापार से भी बहुत लाभ होता होगा। आनन्द श्रावक व्यय से बचे हुए उस धन का क्या उपयोग करता था, जिससे उसका व्रत भंग नहीं हुआ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि आनन्द अपनी बढ़ी हुई सम्पत्ति का क्या उपयोग करता था इसका शास्त्र में कोई स्पष्ट वर्णन तो नहीं है, लेकिन शास्त्र में यह वर्णन तो है ही, कि आनन्द श्रावक श्रमण माहण को प्रतिलाभित करता हुआ विचरता था। श्रमण का अर्थ साधु है और माहण का अर्थ ब्राह्मण या श्रावक है। आनन्द, श्रमण और माहण को उनके योग्य दान देता था। इसके सिवा शास्त्र में तुंगिया नगरी आदि स्थान के श्रावकों का वर्णन करते हुए कहा गया है, कि उन श्रावकों के द्वार दान देने के लिए सदा ही खुले रहते थे। उनके यहाँ से कोई निराश नहीं जाता था। इस

वर्णन के आधार पर यह भी कहा जा सकता है, कि आनन्द श्रावक दानी था। इस कारण उसकी सम्पत्ति मर्यादा से अधिक नहीं होने पाती थी। इसके साथ ही यह भी कहा जा सकता है, कि आनन्द श्रावक जो कृषि वाणिज्य आदि करता था, उसके द्वारा या तो वह पहले ही कम लाभ लेता था, अथवा लाभ का अधिकांश अपने कार्यकर्त्ताओं को दे देता था। आज यदि कोई आदमी ऐसी दुकान खोले, जिसमें केवल वस्तु की लागत और दुकान आदि का खर्च लेकर ही वस्तु का क्रय-विक्रय किया जाता हो, मुनाफा न लिया जाता हो, अथवा बहुत कम मुनाफा लिया जाता हो, तो जनता ऐसे दुकानदार को बहुत आदर की दृष्टि से देखे, उसे प्रामाणिक माने और उसकी तथा उसके धर्म की भी प्रशन्सा भी करे। हो सकता है, कि आनन्द भी ऐसा ही वाणिज्य करता हो। जो कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि आनन्द के यहाँ कृषि गोपालन और वाणिज्य होता था, फिर भी उसने अपनी सम्पत्ति मर्यादा से अधिक नहीं होने दी थी।

तात्पर्य यह, कि व्रत लेने के पश्चात् व्रत में कपट चलाना और किसी प्रकार का मार्ग निकालना अनुचित है। जिस भावुकता और सरलता से व्रत किया है, वह भावुकता और सरलता अन्त तक रखनी चाहिये। जो इस रीति से व्रत का पालन करता है, उसी का व्रत निर्दोष प्रशस्त एवं प्रशन्सनीय है।

सांसारिक सम्पत्ति, पूर्व-पुण्य के प्रताप से ही प्राप्त होती है। पूर्व-पुण्य के विना संसार की कोई सम्पत्ति नहीं मिलती। छोटी से लेकर इन्द्र—पद तक की सम्पदा, पूर्व-पुण्य के प्रताप से परीक्षा के लिए ही प्राप्त होती है। पुण्य का फल है पौद्गलिक सम्पत्ति का मिलना, और प्राप्त सम्पत्ति के त्याग का फल है मोक्ष। पुण्य के फल स्वरूप जो सम्पत्ति प्राप्त होती है, वह इस बात की परीक्षा के लिए है, कि इसके हृदय में मोक्ष की चाह है अथवा नहीं। जिसमें मोक्ष की चाह होगी, वह उस पुण्य द्वारा प्राप्त सम्पत्ति को भी त्याग देगा। अन्यथा कई लोग ऐसे भी होते हैं, कि जो पुण्य द्वारा प्राप्त सम्पत्ति को पाप का साधन बना लेते हैं। यद्यपि प्राप्त सम्पत्ति को सब लोग नहीं त्याग सकते, कुछ ही लोग त्यागते हैं, अधिकान्श आदमी तो यही चाहते हैं; कि यह सम्पत्ति सदा ही बनी रहे। परन्तु चाहे जैसी सम्पत्ति हो, एक दिन छूटती अवश्य है। पुण्य का फल समाप्त होते ही, प्राप्त सम्पत्ति का भी अन्त हो जाता है। उस समय अनेक प्रयत्न करने और रोकने पर भी, वह सम्पत्ति नहीं रुकती। इसके लिये एक कहानी भी है, जो इस प्रकार है।

एक सेठ बहुत धनवान था। एक रात को उसने स्वप्न में देखा, कि मेरी सम्पदा मुझ से कह रही है, कि तुम्हारा पुण्य समाप्त हो चुका है, इसलिए अब मैं तुम्हारे यहां नहीं रहूंगी, किन्तु चली जाऊँगी। उस सेठ ने स्वप्न में ही अपनी सम्पदा से पूछा, कि

तू कहां जावेगी ? उत्तर मिला, कि-मैं अमुक नगर के अमुक सेठ के यहां जाऊँगी।

स्वप्न देख कर सेठ जाग उठा। वह सोचने लगा, कि-ऐसा क्या उपाय किया जावे, जिससे मेरी सम्पत्ति न जावे। अन्त में उसने इस बात का उपाय सोच कर, प्रायः अपनी समस्त सम्पत्ति को रत्नों में परिवर्तित कर लिया और तीन, लकड़ियां पोली करवा कर, उन में रत्न भरवा दिये तथा ऊपर से डाट लगवा दी। यह कर के उसने वे लकड़िया, अपनी हवेली के सब से उपरी भाग में छप्पर के नीचे लगवा दीं। सेठ उसी छप्पर के नीचे रहता, और वहीं सोता। यद्यपि उसने यह प्रयत्न सम्पत्ति न जाने देने के लिए ही किया था, लेकिन जिस पुण्य के कारण सम्पत्ति प्राप्त होती है, उस पुण्य के क्षय होने पर, सम्पत्ति को कोई किसी भी तरह कैसे रोक सकता था! उस सेठ ने सम्पत्ति को न जाने देना चाहा, फिर भी पुण्य क्षय होने पर सम्पत्ति नहीं रुकी, किन्तु चली ही गई। वर्षाकाल में, एक दिन हवेली के समीप की नदी पूर थी। उसी समय जोर की हवा चली, जिससे, वह छप्पर—जिसमें रत्नों से भरी हुई तीनों लकड़ियाँ लगी थीं—उड कर नदी में गिर गया। बेचारा सेठ रोता ही रह गया।

कुछ दिनों बाद सेठ ने सोचा, कि मेरे यहाँ की सम्पत्ति ने कहा था, कि मैं अमुक सेठ के यहाँ जाऊँगी। उसने मेरे यहाँ से

चली जाने की जो बात कही थी, वह तो सत्य हुई, परन्तु उस सेठ के यहाँ जाने की उसकी बात सत्य थी या झूठ, यह तो देखूं ? इस प्रकार विचार कर सेठ, उस दूसरे नगर के सेठ के यहाँ गया। उसने, उस सेठ को अपना परिचय सुनाया। उस धनवान सेठ ने, अपने यहाँ आये हुए धनहीन सेठ का स्वागत सत्कार किया। फिर उसे, अपने साथ भोजन करने के लिए ले गया। धनहीन सेठ, धनवान सेठ के साथ रसोईघर के सामने बने हुए एक छप्पर के नीचे भोजन करने बैठा। धनहीन सेठ, भोजन भी करता जाता था और इधर उधर देखता भी जाता था। सहसा उसकी दृष्टि ऊपर की ओर चली गई। उसने देखा, कि मेरे यहाँ की वे तीनों लकड़ियाँ छप्पर में लगी हुई हैं, जिनके भीतर रत्न भरे हैं। यह देख कर, उसकी आँखों से आँसू निकल पड़े। वह भोजन करता जाता था और छप्पर की ओर देखकर आँसू गिराता जाता था। अपने यहाँ आये हुए सेठ को इस प्रकार आँसू डालते देख कर, धनवान सेठ ने उससे कारण पूछा। धनहीन सेठ ने पहले तो टालाटूली की, परन्तु अधिक अनुरोध होने पर उसने कहा, कि, छप्पर में लगी हुई ये तीनों लकड़ियां मेरे यहाँ की हैं, और इनके भीतर बहुत से रत्न भरे हुए हैं। यह कह कर उसने, स्वप्न आने लक्ष्मी को रोकने का प्रयत्न करने, तथा लकड़ियों का नदी में गिरने आदि वृत्तान्त आद्योपान्त कह सुनाया। वह वृत्तान्त सुन कर, धनवान सेठ को बहुत ही आश्चर्य हुआ। उसने, उन लकड़ियों को

छप्पर में से निकलवा कर देखा, तो उसे मालूम हुआ, कि ये भीतर से पोली हैं और इनके मुँह पर डाट लगे हुए है। धनवान सेठ को, धनहीन सेठ की बात पर विश्वास हो गया। उसने धनहीन सेठ से कहा, कि—ये लकड़िया आपकी हैं, तो आप इनको ले जाइये मेरे यहाँ तो, ये तीनों लकडियाँ बारह-बारह आने में आई हैं। वर्षा ऋतु में जब नदी पूर थी, मछुए लोग नदी में बह कर आई हुई लकडियाँ निकालते थे। इन तीनों लकडियों को भी, उन्हीं लोगों ने निकाला था। पूर देखने के लिए, अन्य लोगों की तरह मैं भी नदी पर गया था। मैंने, नई लकडियाँ ठीक देख कर बारह-बारह आने में खरीद कीं, और घर लाकर इस छप्पर के नीचे लगवा दी। मेरे को यह मालूम भी नहीं है, कि ये लकडियाँ आपकी हैं और इनके भीतर रत्न भरे हुए हैं। मैं, आपके कथन पर विश्वास करता हूँ। आप अपनी ये लकड़ियाँ और इनमें भरी हुई सम्पत्ति, अपने घर ले जाइये।

धनवान सेठ की बात के उत्तर में धनहीन सेठ कहने लगा कि—अब मैं इन लकडियों को नहीं ले जा सकता। यह सम्पत्ति आपकी है, मेरी नहीं है। मेरी होती, तो मेरे यहाँ से जाती ही क्यों! और मेरा पुण्य क्षय हो गया है, इसलिए अब मेरे यहाँ रह भी कैसे सकती है! इसे तो आप अपने ही यहाँ रखिये। मैं तो, केवल इसकी सचाई देखने तथा यह जानने आया, कि यह स्वयं

के कथानुसार आपही के यहाँ आई हैं, अथवा किसी दूसरे के यहाँ गई है। धनवान सेठ से यह कह कर, धनहीन सेठ अपने घर लौट गया।

तात्पर्य यह, कि सम्पत्ति तभी तक रहती है, जब तक पुण्य है पुण्य की सम्पति के साथ ही, सम्पत्ति भी चली जाती है, अनेक प्रयत्न करने पर भी नहीं रुकती। आज भी ऐसी अनेक घटनाएँ सुनने में आती है, कि किसी के घर में गाड़ा गया धन किसी दूसरे के घर में निकला। इसी प्रकार गड़ी हुई सम्पति का कोयला हो जाना आदि बातें भी सुनने में आती ही हैं। इस प्रकार पुण्य के क्षय होने पर सम्पति नहीं रुकती, चाहे उसको रोकने के लिए कितना ही प्रयत्न क्यों न किया जावे। सम्पत्ति का नाम ही, चंचला है। वह, एक जगह तो ठहरती ही नहीं है। ऐसी दशा में, सम्पति के द्वारा पाप क्यों कमाया जावे उसे त्याग कर, अक्षय लाभ क्यों न लिया जावे। यदि प्राप्त सम्पति को त्याग कर मोक्ष के पथिक बने तब तो जिस परीक्षा के लिए सम्पत्ति प्राप्त हुई है, उस परीक्षा में उत्तीर्ण हो, अन्यथा अनुत्तीर्ण हो। और अनुत्तीर्ण होने पर, फिर परीक्षा की प्रतीक्षा करनी होगी। यदि सांसारिक सम्पदा को सर्वथा त्यागा जा सके तब तो श्रेष्ठ ही है, नहीं तो मर्यादा करके, मर्यादा में रखी हुई सम्पत्ति को दुष्कृत्य में मत लगाओ। उसका उपयोग, पापोपार्जन में

तो न करो। उसके द्वारा दान का लाभ लो, कृपण मत बनो। यदि कृपण बनोगे, तो मरते समय वही सम्पत्ति तुम्हारी छाती पर भार रूप तथा तुम्हें डुबानेवाली हो जावेगी। इसलिए एक कवि ने कहा है—

पानी होवे नाव में घर में होवे दाम।
दोनो हाथ उलीचिये, यही सयानो काम॥

सांसारिक पदार्थों को पाकर, गर्व भी मत करो। सम्पत्ति मिलने से, फूलो भी मत। चाहे कितनी ही सम्पत्ति क्यों न मिले, स्वाभाविकता को कदापि मत छोड़ो। बहुत से लोग, थोड़ी-सी सम्पत्ति पाकर ही अभिमान करने लगते हैं। वे सोचते हैं और कहने भी लगते हैं कि मैं ऐसा हूँ, मैं ऐसा कर सकता हूँ और मुझको अमुक लोग आदर देते हैं, आदि। कभी-कभी तो वे अपनी सम्पत्ति—धन अधिकार सम्मान आदि का उपयोग दूसरे का अहित करने में ही करते हैं। इस प्रकार वे स्वाभाविकता को छोड़ कर, एकदम कृत्रिमता में पड़ जाते हैं। परिणाम यह होता है, कि जिस प्रकार जल पाकर फूल जाने से और स्वाभाविकता छोड़ देने से चना दला जाता है, उसी प्रकार सम्पत्ति रूपी जल पाकर फूले हुए मनुष्य रूपी चने भी दले जाते हैं; पानी दुखी किये जाते हैं, गिराये जाते हैं। इसलिए सम्पत्ति पाकर अभिमान कभी न करो, किन्तु उसी प्रकार नम्र बन जाओ, जिस प्रकार जल से भरे हुए बादल, फल से लदे हुए वृक्ष और विद्वान् सज्जन नम्र होते हैं।

सम्पत्ति के लिए, जीवन मत हारो। जीवन को सम्पत्ति के लिए मत समझो। सम्पत्ति पर, जीवन न्योछावर मत करो। सम्पत्ति के लिए धर्म को धाता मत बताओ, किन्तु यह विचार रखो, कि हम धन को बड़ा न मानेंगे, धर्म को ही बड़ा मानेंगे और दोनों में से किसी एक के जाने का समय आने पर, धन चाहे जावे, लेकिन धर्म को कदापि न जाने देंगे। धर्मरहित सम्पत्ति, नरक का कारण है। ऐसी सम्पत्ति, दुर्गति में ही ले जाती है। इसलिए धर्मरहित धन को अपने यहाँ कदापि न रहने दो।

जीव को ससार में फसाने के लिए, दारेषणा, पुत्रेषणा और धनेषणा जाल रूप हैं। जो इन जाल से बचा रहता है, उसी का कल्याण होता है और वही कल्याण कर सकता है।
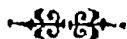
अतिचार

भगवान ने, इच्छा-परिमाण-व्रत के पाँच अतिचार बताये हैं। वे पाँचों अतिचार, जानने योग्य हैं, आचरण योग्य नहीं हैं। व्रत की मर्यादा चार प्रकार से टूटती है, अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचार और अनाचार। अतिक्रम, व्यतिक्रम तथा अतिचार में व्रत आन्शिक भंग होता है, और अनाचार में व्रत टूट जाता है। अतिचार तक—जब तक कि व्रत आन्शिक भग हुआ है, पूर्णतः भग नहीं हुआ है—व्रत में दूषण ही लगता है, व्रत टूटता नहीं है, लेकिन अनाचार होने पर व्रत टूट जाता है। अतिचार, व्रत का अन्तिम और बड़ा दूषण है, इसलिए इसको जानकर इससे बचना चाहिए। ऐसा करने पर ही, व्रत दूषण-रहित रह सकता है।

इच्छा परिमाण व्रत के पाँच अतिचार ये हैं—क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रम, हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिक्रम, धनधान्य प्रमाणातिक्रम, द्विपद चतुष्पद प्रमाणातिक्रम और कुप्य प्रमाणातिक्रम। खेतादि भूमि और गृहादि के विषय में की गई मर्यादा का आन्शिक उल्लंघन, क्षेत्रवास्तु प्रमाणातिक्रम अतिचार है। यदि मर्यादा को पूर्णतः या विचार पूर्वक तोड़ दिया जावे, तब तो वह अनाचार ही है, फिर तो व्रत बिल्कुल ही टूट जाता है, लेकिन व्रत की अपेक्षा रखते हुए भी भूल या असावधानी से ऐसा कार्य हो जावे तो व्रत

की मर्यादा में नहीं है, और जिसके करने से व्रत कुछ अंश में भंग हो जाता है, तो यह अतिचार है।

क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रम अतिचार का अर्थ, खेतादि खुली भूमि और गृहादि आच्छादित भूमि के विषय में की गई मर्यादा का पूर्णतः नहीं, किन्तु आंशिक उल्लंघन करना है। जैसे किसी व्यक्ति ने, चार से अधिक खेत न रखने की मर्यादा की। मर्यादा-काल में उसे और खेत मिले। व्रत न टूटे इस विचार से उसने, उन फिर मिले हुए खेतों को पहले के चार खेतों में ही मिला लिया। बीच की मेड़ (पाळ) तोड़ दी और फिर मिले हुए खेतों को पहले के खेतों में मिला कर संख्या नहीं बढ़ने दी, तो यह अतिचार है। क्योंकि, मर्यादा करने के समय उसने और खेतों को मिला कर प्रस्तुत खेतों को बढ़ाने का आगार नहीं रखा था। इसी प्रकार गृह के विषयमें भी विचार रखना। मर्यादामें जिस घर को रखा है, उस घरको ऊंचाई चौड़ाई अथवा मूल्यमें बढाना, यह भी अतिचार है।

हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिक्रम अतिचार का अर्थ, चाँदी सोना या चाँदी सोने की चीजों के विषय में की गई मर्यादा का आंशिक उल्लंघन करना है। व्रत की उपेक्षा तो नहीं करता है, व्रत की तो रक्षा ही करना चाहता है, फिर भी असावधानी से या समझ की कमी के कारण ऐसे कार्य करता है, जिससे व्रत का आन्शिक उल्लंघन होता है और व्रत में दूषण लगाता है, तो यह हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिक्रम अतिचार है। जैसे, मर्यादा करने के पश्चात् सोना चाँदी या सोने चाँदी की कोई वस्तु मिली। उस समय यह

सोसे, कि मुझे इसका रखना नहीं कल्पता इसलिए दूसरे के पास रख दूँ, और ऐसा सोच कर मर्यादा से बाहर की वस्तु दूसरे के पास रख दे, तो यह हिरण्यसुवर्ण प्रमाणातिक्रम अतिचार है।

तीसरा अतिचार, धनधान्यादि प्रमाणातिक्रम है। धन और धान्य के अन्तर्गत बताई गई वस्तुओं के विषय में की गई मर्यादा का आंशिक उल्लंघन, धनधान्य प्रमाणातिक्रम अतिचार है। जैसे, किसी ने अनाज घी गुड़ या रुपये पैसे के विषय में कोई मर्यादा की। मर्यादाकाल में, उसे मर्यादा से बाहर की कोई वस्तु मिली। उस समय यह सोचे, कि यदि मैं इस वस्तु को अभी अपने अधिकार में रखूंगा तो मेरा व्रत भंग हो जावेगा; इसलिए मर्यादाकाल के वास्ते यह वस्तु दूसरे के पास रख दूं। अथवा मेरे पास जो वस्तुएँ हैं, उनके समाप्त या कम होने तक यह वस्तु दूसरे के पास रख दूं। फिर जब मर्यादाकाल समाप्त हो जावेगा, या मर्यादा में रखी हुई वस्तुमें न्यूनता आवेगी, तब इस वस्तु को लेकर अपने अधिकार में कर लूंगा। इस प्रकार व्रतकी अपेक्षा रखते हुए भी ऐसे कार्य करना, जिनसे व्रतमें दूषण लगता है, धनधान्य प्रमाणातिक्रम अतिचार है।

चौथा द्विपद–चतुष्पद प्रमाणातिक्रम अतिचार है। जितने द्विपद या चतुष्पद रखने का आगार है, उतने से अधिक मिलने पर व्रत टूटने के भय से उन अधिक मिले हुए को अपने पास न रखे, किन्तु दूसरे के पास रख दे और सोचे, कि मर्यादाकाल समाप्त होने पर या मर्यादित द्विपद चौपद में कमी होने पर मैं इस दूसरे से ले लूँगा, तो यह द्विपद चतुष्पद प्रमाणातिक्रम अतिचार है।

पांचवाँ कुप्य प्रमाणातिक्रम अतिचार है। व्रत के आगार में घर की जो वस्तुएँ रखी है, उन वस्तुओं से बाहर की वस्तुओं को, मर्यादाकाल समाप्त होने पर या मर्यादा में रखी हुई वस्तुओं में न्यूनता आने पर वापस लेने के विचार से दूसरे के पास रखे, तो यह कुप्य प्रमाणातिक्रम अतिचार है।

अतिचारों की एक व्याख्या यह भी होती है, कि ज्ञात न होने पर स्वय के अधिकार में मर्यादा से अधिक पदार्थों का हो जाना। पदार्थ तो मर्यादा से अधिक हो गये हैं, लेकिन स्वयं को यह पता नहीं है, कि मेरे अधिकार में मर्यादा से अधिक पदार्थ हैं, किन्तु स्वय यही समझता है, कि जो पदार्थ मेरे अधिकार में हैं वे मर्यादा में ही हैं; तो यह अतिचार है। यानी अजान पने में मर्यादा से अधिक पदार्थों का स्वयं के अधिकार में होना यह अतिचार है। जब तक इस बात का पता नहीं है, कि मेरे अधिकार में मर्यादा से अधिक पदार्थ हैं, तब तक तो उन अधिक पदार्थों का अधिकार में होना अतिचार ही है, लेकिन पता होने पर भी मर्यादा से अधिक पदार्थों को अपने अधिकार में ही रखना, अनाचार है, और अनाचार होने पर व्रत भग हो जाता है।

संक्षेप में यह पांचों अतिचार का रूप हुआ। जो व्यक्ति इन पांचों अतिचार से बच कर व्रत का पालन करता है, उसी का व्रत दूषण रहित है, वही व्रत लेने का उद्देश्य पूरा करता है, और वही आराधिक तथा आत्मकल्याण करने वाला है। ॥ इति शुभम् ॥